ISSN 2347-8004 Bodhi Path
पंजीकरण संख्या-DELBIL/2011/41024

बोधि–पथ

BODHI-PATH

जनवरी, 2017 अंक–बारहवां द्विभाषिक छमाही पत्रिका
Half-yearly Bilingual Buddhism and Philosophy Journal

नव वर्ष की हार्दिक मंगल कामनाएं !

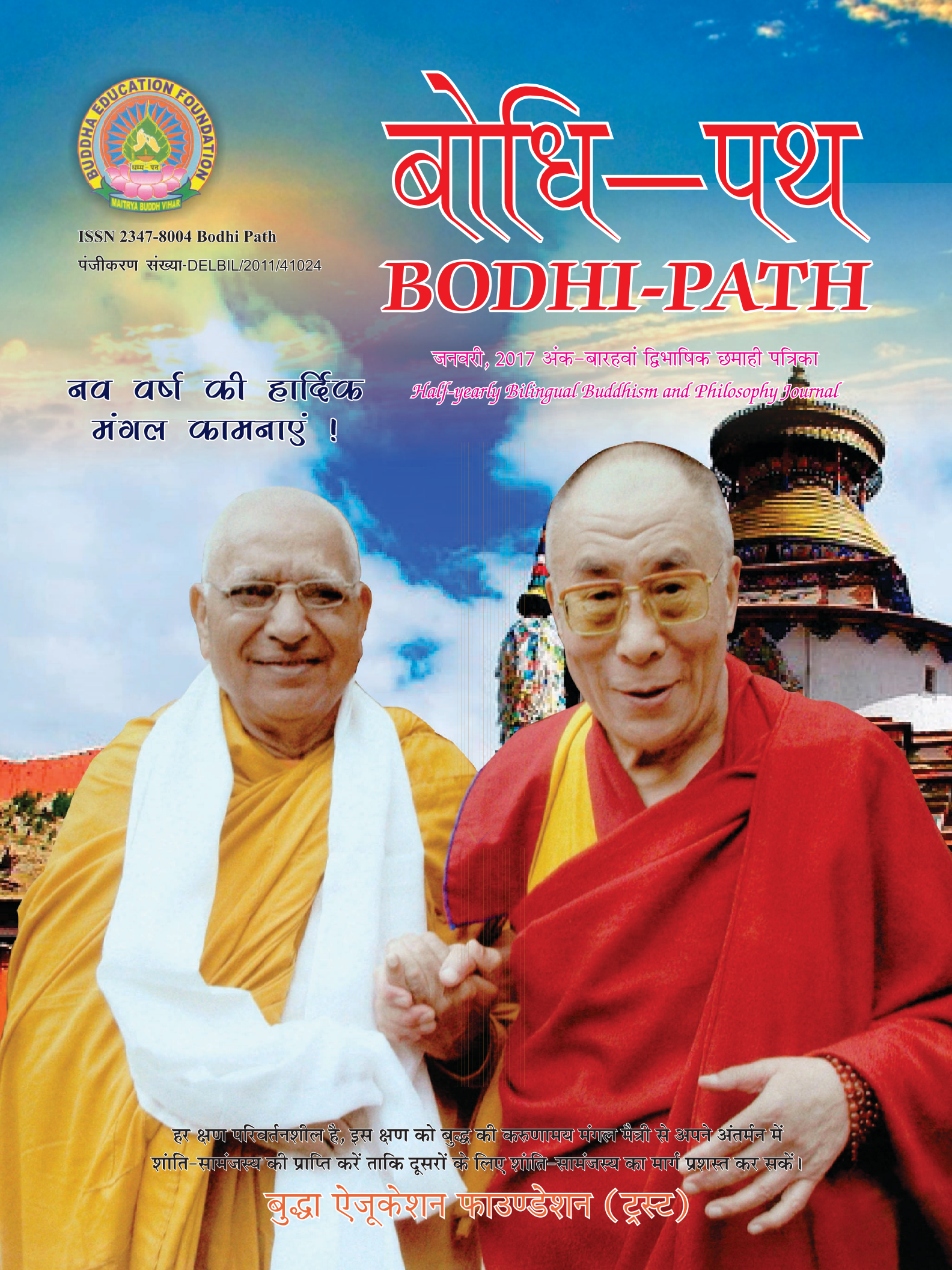

हर क्षण परिवर्तनशील है, इस क्षण को बुद्ध की करुणामय मंगल मैत्री से अपने अंतर्मन में शांति-सामंजस्य की प्राप्ति करें ताकि दूसरों के लिए शांति-सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट)

ISSN 2347-8004

बोधि–पथ

वर्ष : जनवरी 2017, अंकः 12 द्विभाषिक छमाही पत्रिका

प्रबंधक
भिक्खु विश्वबन्धु, चैयरमेन,
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट)

संरक्षक
डॉ आई.एन.सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

परामर्श दाता
प्रो. हीरापॉल गंगनेगी, विभागाध्यक्ष,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
प्रो.के.टी.एस.सराओ
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
डॉ सुभ्रा बरूआ पावागड़ी, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
डॉ आर. के. राणा, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सम्पादक
डॉ संघमित्रा बौद्ध,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (अंग्रजी)
डॉ अमिता कपूर
एसोसिएट प्रोफेसर,
शहीद राजगुरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (हिन्दी)
डॉ एच. के. बालूजा
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
वेबसाइट व्यवस्थापक
श्री नरोत्तम सिंह
लेखक व हीलर

राज्य ब्यूरो
दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, उत्तरांचल, उत्तराखण्ड,
मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार,
वेस्ट बंगाल।

वितरण
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट),
मैत्रेय बुद्ध विहार,
तीसरी मंजिल, एच–2/48 सै॰16,
रोहिणी, दिल्ली–110089

नोट : सम्पादक मण्डल के नियुक्त सभी पदाधिकारी अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं ।

बोधि–पथ पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं । आवश्यक नहीं कि प्रकाशक व सम्पादक उनसे सहमत हों ।

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामित्व धारक **भिक्खु विश्वबन्धु** के लिए स्टार फार्म, 8710, रोशनारा रोड, सब्जी मंडी, दिल्ली–110007 से मुद्रित एवं बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध, विहार, तीसरी मंजिल, एच–2/48, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 से प्रकाशित । सम्पादक का नाम और पता : **डॉ. संघमित्रा बौद्ध,** तृतीय तल, एच–2/48, सै. –16, रोहिणी, दिल्ली–110089

अनुक्रमणिका

संपादकीय	**डॉ संघमित्रा बौद्ध**	
बौद्ध जीवन मार्ग	**भिक्खु विश्वबन्धु**	02
श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति का एक अध्ययन	**डॉ0 भिक्षु प्रज्ञापाल**	05
बौद्ध प्रबन्धन की विशेषताएँ	**डॉ. लाल सिंह बौद्ध**	10
विपश्यना पर आधारित समता धर्म	**डॉ संघमित्रा बौद्ध**	12
बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में उत्पन्न बाधाएँ	**डॉ कामेश्वर प्रसाद**	14
Contribution of Mahasthavir Kripasaran to the Revival of Buddhism in Bengal	Dr. Subhra Barua Pavagadhi	18
Analysing Dosa and Metta for the Peaceful World	Ashin Nayana Dipa	21
Existence of Buddhism in Kalimpong	Lhundup Tsomo Bhutia	25
Vasubandhu's Viewpoint on Pure Land	Huynh Van Anh Vov	30
Tsongkhapa: A Great Buddhist Reformer of Tibet	Dr. Dev Raj	35
An Attempt to Fathom the Apocryphal Texts in Chinese Buddhism for the Filial Piety	Dr. Anant.	39
Buddhist Education in Combodia Today	Khy Sovanratana	43

निवेदन

पत्रिका 'बोधि–पथ' की सदस्यता के लिए आप अपने मित्रों, परिचितों एवं अन्य को भी सदस्य बनाकर सहयोग करें। पूर्व ग्रहित सदस्यों की सदस्यता इस अंक के साथ समाप्त हो गई है। कृपया करके अपनी सदस्यता शुल्क की राशि को खाता न0 – 3007101001960, केनरा बैंक, रॉकफिल्ड पब्लिक स्कूल, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 में जमा करने का कष्ट करें। ताकि राशि सहयोग द्वारा पत्रिका का सुचारू रूप से प्रकाशन हो सके। और अपने अमूल्य सुझाव एवं हिन्दी लेख Kundli एवं अंग्रेजी लेख को भी ई–मेल : sanghmb@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।
Website: http://bodhi-path.com

E-mail : darshitraders@gmail.com, sanghmb@gmail.com
दूरभाष न.– 9968262935, 08447637374, 9810319200
प्रति मूल्य : 50रु॰ सदस्यता शुल्क : वार्षिक 100रु॰, द्विवार्षिक 200रु॰, आजीवन 5000रु॰

संपादकीय

सम्पादक की कलम से ...

डॉ. संघमित्रा बौद्ध

बौद्ध धर्म मानवीय धर्म है, बुद्ध ने देववाद एवं भाग्यवाद के स्थान पर मानव, मानवतावाद एवं कर्मवाद की प्रतिष्ठा की। अतः बुद्ध–धर्म ईश्वर को नहीं, मनुष्य को महत्व देता है। भगवान् बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा की शिक्षा के साथ ही अपने धर्म के अंग के रूप में सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक, स्वतत्रंता एवं समानता की शिक्षा दी है। उनका मुख्य उद्देश्य मानव को इसी धरती पर इसी जीवन में विमुक्ति दिलाना था, न कि मरणोपरान्त स्वर्ग प्राप्ति का काल्पनिक वादा करना। बुद्ध ने स्पष्ट कहा था कि उनका उपदेश स्वयं उनके विचार पर आधारित है, उसे दूसरे तब स्वीकार करें, जब वे उसे अपने विचार और अनुभव से सही पाएं। जिस प्रकार एक सुनार सोने की परीक्षा करता है, उसी प्रकार मेरे उपदेशों की परीक्षा करनी चाहिए। दूसरे किसी भी धर्म संस्थापक ने कभी यह बात नहीं की।

यही कारण है डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर ने दूसरे किसी धर्म को न अपना कर बौद्ध धर्म का ही चुनाव किया। उनके अनुसार समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ एवं स्थायी शान्ति बुद्ध द्वारा निर्मित सुगत–शासन में ही निहित है। क्योंकि यह साम्प्रदायिकता की बेड़ियों से बंधा हुआ नहीं है। इसमें लौकिक शक्तियों की परिकल्पना नहीं है और न उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए कोई नियम हैं। इसमें केवल शुद्ध नैतिक चर्या का निष्पादन हैं। बौद्ध धर्म नैतिकता पर आधारित, विज्ञान से संबंध रखने वाला धर्म है। ऐसी स्वतंत्रता अन्य किसी भी धर्म में नहीं है।

बाबा साहेब के अनुसार धर्म प्रत्येक समाज के लिए नैतिकता का निर्धारक तत्व होता है और उस समाज में अनुशासन बनाए रखने के लिए धम्म के नियमों का पालन करना होता है, जिसे विज्ञान सम्मत या बुद्धिसंगत होना चाहिए, साथ ही उसे स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के मूलभूत तत्वों को मान्य करना चाहिए। डॉ अम्बेडकर के अनुसार बौद्ध धर्म उक्त सभी कसौटियों पर खरा उतरता है। यद्यपि बौद्ध धर्म बहुत ही प्राचीन धर्म है तथा अपन ढाई हजार वर्षो की अवधि में अनेक उतार–चढ़ाव से वह गुजरा है, जिसकी कुछ समय के लिए तेजी से अवनति हुई, बाबा साहेब द्वारा सामुदायिक धम्म स्वीकार आंदोलन के बाद भारत में यह तेजी से प्रसारित हुआ। इस आंदोलन से उन्होंने अपने करोड़ों भाइयों को दासता, छुआछूत और शोषण से मुक्त कराकर मनुष्य का दर्जा दिलाया है। सदियों से चली आ रही सामाजिक गुलामी से बाबा सहाब ने अछूतों को छुटकारा दिलाया। मानव इतिहास में, यह आश्चर्यजनक उपलब्धि थी।

इस धम्म–आंदोलन के कई वर्षो बाद भी जो समस्याएं हैं, उसका कारण है कि हम ये समझ ही नहीं सके कि बाबा साहब ने बौद्ध धर्म ही क्यों चुना ? इसी तरह सामूहिक धर्म परिवर्तन के आंदोलन के महत्व को समझने में हमारी असफलता रही है, साथ ही इस आंदोलन को हम उस विशाल दृष्टिकोण से देख ही नहीं पाते, समझ ही नहीं पाते और यही कारण है कि हम अपने दायरे से ऊपर किसी महान् कार्य करने की भावना से प्रेरित नहीं हो पाते इसलिए धर्म क्रांति के कार्य करने के बारे में विचार नहीं करते, इसके विपरित्त हम बहुत संकीर्ण विचार से व्यक्तिगत मामलों में ही उलझे रहते हैं।

वर्तमान का समय बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए बिल्कुल अनुकूल दिखाई देता है। एक समय था, जब धर्म के गुण एवं अवगुणों की परख करने का सवाल ही नहीं उठता था। इसलिए धर्म आदमी के उत्तराधिकार का अंग हुआ करता था जो पैतृक संपत्ति प्राप्त करने योग्य भी हैं कि नहीं का प्रश्न तो उठाया करते थे, लेकिन ऐसा कोई उत्तराधिकारी नहीं था जो यह प्रश्न करता कि क्या उसके माता–पिता का धर्म अपनाने योग्य है।

किन्तु अब समय बदल चुका है। संसार भर में अब बहुत से लोगों में उत्तराधिकार में पाए जाने वाले धर्म के बारे में प्रश्न करने का अदभुत साहस दिखाया है। जिसके लिए कारण जो भी हो। यह सत्य है कि धर्म के बारे में लोगों के मन में जांच पड़ताल करने की भावना पैदा हो चुकी है। इसलिए कौन सा धर्म अपनाने योग्य है। इस पर साहसपूर्वक प्रश्न किया जाने लगा है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में बौद्ध सम्मेलनों, बौद्ध राष्ट्रों और बुद्धिजीवियों को चाहिए कि बुद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार करना अपना कर्तव्य मानते हुए यह मानना ही होगा कि नैतिकता का धर्म बौद्ध धर्म का प्रसार करना ही वास्तविक मानवता की सेवा करना है। यदि 'बोधि–पथ' का यह अंक इस दिशा में कुछ भी सहायक हुआ, तो हम अपने प्रयास को धन्य समझेंगे।

"भवतु सब्ब मंगलं"

बौद्ध जीवन मार्ग

भिक्खु विश्वबन्धु, चेयरमैन, बुद्धा एजूकेशन फाउन्डेशन

ज्ञान में, विज्ञान में, भाषा में, आचार–विचार में, रंग में, गुण में यहाँ तक कि मनुष्य–मनुष्य में भेद पाया जाता है और यह भेद चिरकाल तक रहेगा। ऐसा देखा जाता है कि जिस समाज में मनुष्य जन्म लेता है उस समाज का उस के मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वंश–गौरव इत्यादि नाना प्रकार के व्यवधान उसकी बुद्धि पर पर्दा डाले रहते है। इस प्रकार प्रत्येक समाज सैकड़ों लोगों को एक सीमा में कैद किए रहता है। इस सीमा के भीतर रहते–2 लोगों की बुद्धि इतनी जड़ हो जाती है कि वे उस सीमा के अन्दर रहना ही अच्छा समझने लगते है। उससे निकलकर बाहर आने में वे कोई उत्साह नहीं दिखाते। परन्तु इतिहास गवाह है कि प्रत्येक समाज में एक न एक ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्तित्व जरूरी उत्पन्न होता है जिसकी बुद्धि धर्म के संकीर्ण विचारों को स्वीकार नहीं करती। वह धर्म की इस सीमा को पार करके एक ऐसे उदार जीवन मार्ग पर मनुष्य को बुलाता है। कि वहाँ आकार उसके साथ सम्मिलित होने में कोई मनुष्य संकोच नहीं करता।

करीब 2600 वर्ष पहले भगवान बुद्ध ने मुक्ति के एक ऐसे ही उदार जीवन मार्ग पर संसार के सभी मनुष्यों को बुलाया था। उन्होने लोगों के निकट जाकर बड़ी दृढ़ता से कहा था, ''मैं तुमको जिस धर्म की राह पर बुला रहा हूँ वह मंगल है, निर्दोष है। और ज्ञानियों के आचरण करने के योग्य है। इस धर्म का आचरण करने से तुमको सुख और कल्याण मिलेगा। मैं तुमको कोई पुरानी बात नहीं कहूँगा, तुमसे कोई रहस्य की बात नहीं कहूँगा, दूसरे की बात पर विश्वास करने के लिए मैं तुमको नहीं कहूँगा लेकिन इतना जरूर कहूँगा कि तुम स्वयं ही अपने ऊपर निर्भर होकर मेहनत करना। दूसरे किसी का भरोसा मत करना। शुभ मुहूर्त को हाथ से मत जाने देना क्योंकि अगर सुयोग गंवा दोगे तो एक दिन तुमको जरूर पछताना पड़ेगा। मैं तुमको जो कुछ भी कहूँगा उसे तुम सर्वप्रथम अपनी आँखों से देख लेना, विचारन और उसके बाद ग्रहण करना। इसका फल तुम शीघ्र देखोगे। मैं जो कुछ भी कहूँगा वह सब स्पष्ट और प्रत्यक्ष होगा।

मैं तुम लागो को अमंगल के बीच से मंगल में लाना चाहता हूँ। रोग, शोक, मृत्यु के बीच से निर्वाण के शान्ति पथ पर डालना चाहता हूँ। तुम मेरे पास चले आओ।

मैं तुमको निर्वाण का सरल मार्ग दिखाऊँगा उस मार्ग का कोई रहस्य मुझसे छिपा हुआ नहीं है।''

उन्होंने मनुष्य को कोई व्यर्थ की आशा न देकर स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं तो केवल रास्ता दिखला सकता हूँ। सावधान तुमको ही रहना होगा। आलसी होने से काम नहीं चलेगा। आलसी मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। शील का पालन और इन्द्रियों का संयम करना तुम अपना कर्त्तव्य समझो। शील पालन करने से तुम्हारी बुद्धि की चंचलता दूर होगी। इससे तुम सुखी बनोगे और तुम्हारा दुःख दूर होगा। जिस प्रकार नये फूल के खिलने से मुरझाए हुए फूल अपने आप झड़ जाते है वैसे ही पालन करने से तुम्हारे हृदय की बुरी भावनाएँ अपने आप ही दूर हो जाएँगी और उनका स्थान शुभ भावनाएँ ले लेगी। इस प्रकार मन पर तुम्हारा अधिकार जाएगा और तुम परमानन्द प्राप्त करोगे। इसलिए तुम लोग जो कुछ भी बालो मन से बोलो, जो कुछ भी करो मन से करो। धर्म की उत्पत्ति मन से ही है। इसलिए मन को ही सबल करो। लागों की वाहवाही लूटने के लिए तुमको शील का पालन नहीं करना चाहिए। तुम्हारा जो जितना बुरा करे तुम उसका उतना ही भला करो। युद्ध में जो वीर एक लाख शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करे वह सच्चा विजयी नहीं होता। सच्चा विजयी वही होता है जो अपने मन को जीते। जो तुम्हारा दुश्मन है वह तुम्हारा कहाँ तक बुरा कर सकता है। सच पूछो तो तुम्हारा कुपथगामी मन ही तुम्हारा भारी से भारी अनिष्ट करता है। इसीलिए तुम अपने घुमक्कड़ मन को रोककर वश में करो। तुम्हारा परम कल्याण होगा। जो अपने मन को वश में नहीं रख सकता उसे सुख या शान्ति नहीं मिल सकती। पाप को पाप समझने से ही तुम उससे छुटकारा नहीं पा सकते। इसके लिए तुम्हें अपने वचन और कार्य की मन की पवित्रता द्वारा परिष्कृत करना होगा।

उन्होंने लोगों को विनम्रपूर्वक जो उपदेश दिया उसका मर्म यही था कि जन्म से लेकर मरण तक दुःख ही दुःख है। एक दुःख का अन्त नहीं होता कि दूसरा दुःख उठ खड़ा होता है। इसकी गति कभी नहीं रूकती। जन्म भी दुःख है, मरण भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, प्रिय वस्तु के साथ वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख है, अभिलाषाओं की पूर्ति होना भी दुःख है क्योंकि एक अभिलाषा के पूरी होने पर दूसरी तैयार बैठी है। सच बात तो यह है कि विश्व में विकास चाहे कितना ही क्यों न हो जाए और सृष्टि पर विजय पाकर मनुष्य चाहे कितना ही बड़े अपार वैभव के महान युग का निर्माण क्यों न कर लें। दुःख रूपी भीषण राक्षस उस युग को ग्रस्त करने के

लिए कहीं से आ ही जाएगा। विश्व शक्ति अनन्त है और उसके अथाह उदर में कहीं न कहीं यह राक्षक जरूर छिपा बैठा है। भूचाल, आँधी, तूफान, संहारक रोगों के असंख्य, कीटाणु, जन्म, मरण, व्याधि, काम, क्रोध, मोह, लोभ, द्वेष, अज्ञान, युद्ध, अराजकता आदि जो दुःख के जन्मदाता है, से पूर्णतया मुक्त विश्व तो कल्पना के संसार में भी नहीं पाया जाता। विज्ञान चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हो जाए इस दुःख का नाश नहीं हो सकता। परन्तु यदि कोई आत्महत्या द्वारा दुःख का अंत करना चाहे तो वह मूर्ख है। दुःख का अन्त दुःख के मूल को नष्ट करने से ही हो सकता है और इसका मूल है तृष्णा।

तृष्णा की उत्पत्ति तभी होती है जब कोई कार्य व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किया जाए। वे वस्तुएँ जो शरीर के लिए आवश्यक हैं उनके उपभोग को तृष्णा नहीं कहते। जब इन उपभोग्य वस्तुओं की लालसा बराबर बढ़ती जाती है तब उसे ही तृष्णा कहते हैं।

कोई व्यक्ति यदि उपभोग्य वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए दिन–रात मेहनत करता है और यदि उसे वे वस्तुएँ प्राप्त नहीं होती तो वह शोकाकुल होकर इस विचार से मूढ़ बनता है कि उसका प्रयत्न व्यर्थ हुआ। यदि उन वस्तुओं को वह प्राप्त कर लेता है तो उनकी रक्षा करने में वह दत्तचित रहता है कि कोई चोर उन्हें चुरा न ले, आग से वे जल न जाएँ, पानी में वे बह न जाए या अप्रिय सम्बन्धियों के अधिकार में न चली जाएँ। इन विषय को लेकर ही उसके मन में कष्ट की उत्पत्ति होती है और इन विषयों के लिए ही राजा–राजा से, क्षत्रिय–क्षत्रिय से, ब्राह्मण–ब्राह्मण से, वेश्य–वेश्य से, माँ–बेट से और बेटा–माँ से, पिता–पुत्र से और पुत्र–पिता से, भाई–बहन से और बहन–भाई से तथा मित्र–मित्र से झगड़ा करते हैं। उनके झगड़े का परिणाम कभी–कभी यह होता है कि वे हाथ, पत्थर, डंडे या शस्त्रों से एक–दूसरे पर प्रहार करते है और उसके फलस्वरूप मृत्यु के समान कष्ट भोगते हैं।

समाज में व्याप्त भोग–विलास और कठिन तपश्चर्या इन दानों के बिच की सुगम राह पर चलने का मार्ग लोगों को दिखाते हुए उन्होनें कहा– ''जिसने दुःख का अस्तित्व, उसकी उत्पत्ति का कारण और उसकी निवृत्ति का उपाय जान लिया है उसको मुक्ति का सरल मार्ग मिल गया है। मछली–मांस छोड़ना, वस्त्र धारण न करने, सिर मुंडाने, भस्म लगाने और हवन आदि के द्वारा मन का पाप दूर नहीं हो सकता। जिसका मोह दूर नहीं हुआ उसके लिए वेद–पाठ, दान, यज्ञ, कठोर तपस्या बेकार है। कोध, अनाचार, कट्टरपन, ठगी, अहंकार, द्वेष आदि बुरी प्रवृत्तियाँ ही मन को मलिन करती है। मछली–माँस के खाने से मन अपवित्र नहीं होता। कठिन तपस्या अनावश्यक और व्यर्थ है। यह अत्यन्त हीन, दुःखमय तथा लाभरहित है। मैं तुम्हें मध्यम प्रतिपदा पर चलने का आह्वान करता हूँ। यह चित्त को शान्ति प्रदान करने वाली है, पूर्ण ज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त कराने वाली है।

आर्य अष्टांगिक मार्ग ही मध्यम प्रतिपदा है। इस अष्टांगिक मार्ग की सीढ़ी के केवल आठ डंडे हैं और तुम्हें अन्तिम डंडे तक पहुँचना है। मार्ग कुछ कष्टदायी अवश्य है क्योंकि इसमें अन्तिम डंडे तक विश्राम नहीं है। सभी डंडों पर तुम्हें एक–एक करके चढ़ना होगा या एक–एक करके ही उतरना होगा। एक–एक डंडे पर विजय प्राप्त करते जाओ मुक्ति का मार्ग स्वयं खुलता जाएगा। तुम्हारे दुःखों का नाश करने वाला जो प्रथम डंडा होगा वहाँ तुम्हारी दृष्टि ठीक होनी चाहिए। यह तुम्हारे श्रेष्ठ, जीवन का आधार होगा। यथार्थ का ज्ञान तुम्हारे मन में त्याग – विशेषकर तृष्णा के त्याग का – अद्वेष और अहिंसा का भाव उत्पन्न करेगा। यहाँ तुम्हें एक वचन देना होगा परन्तु यह वचन हँसी–खेल में नहीं दृढ़ता से देना होगा कि तुम झूठ, दूसरे की निन्दा, अपमान, चुगली, झूठी गवाही से बचोगे। इससे तुममें परस्पर मित्रता बढ़ेगी व तुम्हें वैर–भाव से मुक्ति मिलेगी वरना तुम्हारे जीवन की सारी कल्पना ही बालू की दीवार की तरह भुरभुराकर गिर जाएगी। तुम्हें स्वयं पर विजय प्राप्त करनी होगी और यह तभी होगी जब तुम अकुशल कर्मे से बचोगे व कुशल कर्मों के करने में अपने मन को लगाओगे। यदि तुम्हारे कर्म शुद्ध होगे तो आजीविका भी होगी इसलिए वे सभी कर्म जिनमें धोखा लेशमात्र भी हो उनसे तुम्हें बचना होगा। इसके लिए तुम्हें प्रयास करना होगा कि जो अवगुण तुम में हैं वे तुम्हारे चरित्र से निकल जायें। तुम्हें नये अवगुणों से बचना होगा व सद्गुणों का संचय करना होगा। सातवें डंडे पर तुम्हारी जागरूकता की परीक्षा होगी। यहाँ तुम्हारे शरीर में कौन–कौन सी प्रतिक्रियाएँ चल रही है यहाँ तक कि छोटे और बड़े साँसों के आने–जाने की भी जानकारी रखनी होगी। इस सीढ़ी का अन्तिम और आखिरी डंडा है कुशल कर्म करने में चित्त की एकाग्रता। कसी एक बिन्दु पर तुम्हारा ध्यान एकाग्रचित रहना चाहिए। जिस प्रकार बहुत तेजी से घूमने वाला पंखा अपनी जगह पर स्थिर दिखाई देता है।

सभी को समझने योग्य बोलचाल की भाषा में सरल आख्यान देखकर उन्होनें लोगों को निर्वाण का मार्ग दिखाया।

उन्होनें पतित का उद्धार किया, भूले–भटके को मार्ग दिखलाया और अंधेरे में भटक रहे आखों वाले के सामने करूणा की रसधारा से भरा प्रज्वलित ज्ञान का दीपक रख दिया। परन्तु जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, अनुभव के द्वारा नहीं जाना जा सकता, जिसकी व्याख्या वाणी के द्वारा नहीं की जा सकती उसके सम्बन्ध में वे मौन ही रहे। उनका कहना था कि इस सम्बन्ध में किया गया विचार जटिल समस्याओं को पैदा करने वाला एक जंगल है। जो मनुष्य को एक बहुत बड़े भ्रम डाल देता है। इस पर विचार करने से दुःख और निराशा का जन्म होता है तथा इस पर किया गया विचार तृष्णानाश, समाधान, ज्ञान, प्रकाश, निर्वाण आदि की ओर ले जाने वाला नहीं है।

भगवान बुद्ध के उपदेशों ने अतीत में भी समस्त भारत में अमृत का छिड़काव करके अत्यन्त अद्‌भुत साहित्य, विज्ञान और शिल्प की रचना की थी और आज भी उस अतीत युग के सभ्यता भण्डार से समस्त विश्व के विद्वान नये–नये रत्न प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। भगवान बुद्ध ने जो दान दिया है उसे चिरकाल तक अमर जानकर संसार ने ग्रहण किया है और आगे भी करता रहेगा।

पठमं बुद्धवचनं

अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं
इमं उदानं उदानेसि-
'' यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा,
आतापिनो कङ्खा वपयन्ति सब्बा।
अथस्स कंखा वपयन्ति सब्बा,
यतो पजानाति सहेतुधम्म'' ति।

बुद्धो भगवा

अर्थात इसके पश्चात् भगवान ने इसके अर्थ को जानकर उस समय ये उद्‌गार अभिव्यक्त किए-'' जब धर्मो के स्वरूप उत्पन्न होते हैं, तो उद्यमी और ध्यानी, ब्राह्मण की समस्त शंकाएं समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि उसने कार्यकारण से घटित सहेतु धर्म को (प्रज्ञा से) जान लिया है।

''अनेकजाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं,
गहकारक गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं,
गहकारक दिट्ठोसि पुन गहं न काहसि,
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खतं,
विसङ्खरगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा' ति।

बुद्धो भगवा

अर्थात् बिना रूके अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा। इस गृहकारकरूपी तृष्णा को बार-बार खोजते हुए दुखमय जन्म में पड़ता रहा। हे गृहकारक (तृष्णे)! मैंने तुझे देख लिया है, अब फिर से तू घर नहीं बना सकेगी। तेरी समस्त कड़ियाँ भग्न हो गई हैं, गृह का शिखर गिर गया है। चित्त संस्कार रहित हो गया है। तृष्णा का क्षय करके अर्हत् हो गया है।

श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति का एक अध्ययन

भिक्षु (डॉ॰) प्रज्ञापाल, शोध-सहायक, पालि-हिन्दी शब्दकोश, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

आज भारत में दो संस्कृति की परम्परा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। वह है– श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृति। श्रमण संस्कृति का सम्बन्ध सैन्धव सभ्यता से और ब्राह्मण संस्कृति का सम्बन्ध वैदिक सभ्यता से है। आर्यो के भारत आगमन के पूर्व ही श्रमण संस्कृति अपनी विकास की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ब्राह्मण संस्कृति का विकास आर्यो के भारत आने के बाद वैदिक काल में प्रारम्भ हुई। भारत में दोनों संस्कृतियों का विकास प्रतियोगितात्मक हुआ है। दोनों का विभेद भी स्पष्ट है।[1] दोनों में कृत्रिम मिलावट हुई है जो दूध में पानी की तरह नहीं बल्कि दूध में तेल की तरह छलकती नजर आती है। ब्राह्मण संस्कृति का प्रारम्भिक नाम वैदिक संस्कृति था, जिसका एकीकृत अधुनातन नाम हिन्दू संस्कृति है। जाति के रूप में वैदिक संस्कृति के पोषक आर्य थे और श्रमण संस्कृति के पोषक अनार्य, जिसमें कोल, भील, पहाड़िया, संथाली आदि जातियों को समाविष्ट किया जाता था। आज श्रमण संस्कृति–जैन और बौद्ध धर्म के रूप में बहुत कम लोगों के बीच उपलब्ध है। ब्राह्मण संस्कृति बहुदेववादी, आत्मवादी, भोगवादी या ऐश्वर्यवादी है। उनके जीवन का लक्ष्य ऐहलौकिक सुखों का पूर्ण उपभोग कर पारलौकिक सुखों को प्राप्त करना है, जिसका स्थान स्वर्गलोक जैसे काल्पनिक लोक है। इस संस्कृति के लोग स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनेक कर्मकाण्ड का सहारा लेते हैं। पूजा–पाठ, यज्ञ, हवन जैसे– कृत्यों को स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग मानते हैं। श्रद्धा और भक्ति उनका आध्यात्मिक विश्वास है। समर्पण ही स्वर्ग प्राप्ति का एक मात्र रास्ता है।[2] श्रमणों की संस्कृति, दुखवादी, अनात्मवादी और कर्म बन्धनात्मक है। ब्रह्मचर्य, तपस्या और योग उनकी दिनचर्या है। निर्वाण, मोक्ष और कैवल्य एकमात्र जीवन का लक्ष्य है।[3] शील–आचरण सम्पन्न होना पूर्ण मानवीय गुण है, ऐश्वर्य हेय है, निर्वाण ध्येय है। इन दो संस्कृतियों का विकास भारतीय भूमि में दिखाई पड़ते हैं। आज यह पड़ताल आवश्यक है कि कौन भारत की मूल या अधिक प्राचीन है और कौन उसके बाद की है या आयातित है? एक परम्परा के रूप में इस विभेद को जानने के लिए श्रमणों का योग और वैदिकों का यज्ञ अनुष्ठान का ऐतिहासिक अन्वेषण करना होगा।

सम्प्रति यज्ञ और योग सम्मिलित रूप से भारत की सांस्कृतिक पहचान बनी हुई है। यज्ञ वैदिक परम्परा का एकमात्र कर्मकाण्ड है। यज्ञ ही वैदिक धर्म का प्राण है जिसके सहारे ऐहलौकिक और पारलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। पूर्व वैदिक काल में यज्ञ द्वारा जगत और जीवन में कार्यशील देवताओं के आराधना में ऐहिक और आमुष्मिक सुख और सौभाग्य प्राप्त किया जा सकता था। उत्तर वैदिक काल में देवताओं को ईश्वर और ब्रह्मा के रुप में प्रतिपादित किया। पुरुषार्थ विषयक धारणा में भी प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर परिवर्तन हुआ। परिवर्तन के प्रधान कारण थे आत्मवाद ओर संसारवाद। बहुधा विशुद्ध आत्मवाद के संदर्भो में आप्त–कामना अथवा आनन्द को ही परमार्थ निरुपित किया गया है, न कि दुखनिवृत्ति को। प्राचीन वैदिक परम्परा की ओर उन्मुखता तथा आनन्द की खोज का यह एक आध्यात्मिक रुपान्तर है।[4] प्रारम्भ में वेद इन्द्र का प्रशस्ति गान के रुप में संकलित हुआ।[5] वर्षो के अन्तराल के बाद निवृत्ति सुख का आधार बना। वेद में इन्द्रादिदेवों का रूप सामान्य मानव से अधिक शक्तिशाली है, किन्तु वृत्तियों की दृष्टि से हीन हैं। मानव सुलभ क्रोध, राग, द्वेष आदि वृत्तियों का वैदिक देवों में साम्राज्य है और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही चरम–लक्ष्य है। वैदिकों के आध्यात्मिक शक्ति का कारण वीतरागता नहीं है। इसे धार्मिक कर्मकाण्ड के रूप में देखा जा सकता है। धार्मिक कार्मकाण्ड में यज्ञ मुख्य था जो अधिकांश बिना हिंसा या पशुबध के पूर्ण नहीं होते थे।

निवृत्ति वाद की धारा वैदिक संस्कृति के पूर्व मुनि, यति और श्रमणों द्वारा भारतीय भू–भाग में प्रचारित थी। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई और वहाँ प्राप्त अवशेषों का अध्ययन हुआ उससे यह प्रमाणित हो गया कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भारत की अपनी एक संस्कृति थी। उस प्राचीन भारतीय संस्कृति में योग का अन्यतम स्थान था। पुरातत्त्वविदों ने उस संस्कृति को सैन्धव संस्कृति कहा और वैदिक संस्कृति से उसकी प्राचीनता भी स्थापित की। वेद में योग की चर्चा नहीं है। वहाँ यज्ञ को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसलिए विद्वानों ने भारत में आर्यो के आक्रमण को एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का प्रवेश समझा है।[6] इन प्रदेशों के मूलवासी यति, मुनि, श्रमण थे। योग, ध्यान, साधना उनका कर्मकाण्ड था। वीतरागता उनकी आध्यात्मिक शक्ति थी। अधिक सम्भव यही है कि ये मुनि और यति उन मूल भारत के निवासी थे, जिनकी संस्कृति में योग प्रमुख था। इसे श्रमण संस्कृति भी कहा जा

सकता है जैसा कि प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रों में दार्शनिक चिंतकों को श्रमण और ब्राह्मण दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें आज ब्राह्मण तो वे हैं जो वैदिक संस्कृति केअनुयायी हैं और शेष सभी का समावेश श्रमणों में है।

सारांश यह कि सैन्धव सभ्यता काल में भारत के मूल पूरखे योगी, मुनि और यति में शामिल थे उसके बाद उनका समावेश श्रमणों में हुआ। ऐसे अध्ययन की शुरुआत पुरातात्त्विक संस्थाओं की स्थापना के साथ हुई। आज पुरातत्त्व, भाषा और परम्परा को पूर्ण वैज्ञानिक और प्रामाणिक अध्ययन माना जाता है। कार्वन–14 और फलोरोसेन्स पद्धति से निर्धारित की गई जैविक पदार्थो की आयु हजारों वर्ष पुरानी होने पर भी अधिकतम चालीस वर्ष गलत होने की सम्भावना रहती है, जिससे उस स्थान के काल के सम्बन्ध में प्रामाणिक प्रमाण प्राप्त होने लगे हैं। भाषा के द्वारा भी किसी काल का वैज्ञानिक और प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन भाषा विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। ध्वनि एवं रूपों का परिवर्तन भी काल निर्धारण में प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं। भाषा का विकास मानवीय विकास के अनुकूल होता है जिस प्रकार धरती पर मानव का विकास क्रमशः हुआ है।[7] मानव ससृप वर्ग से उड्डयन वर्ग का विकास पूरा किया। धरती पर ही जीवन का विकास हुआ, बाहर से लाकर सीधे बसाया नहीं गया। ठीक उसी प्रकार भाषा इंगित, वाचिक और लिखित रूप में विकसित हुई है। इसके विकास काल में जो परिवर्तन हुए हैं, वह एक प्रामाणिक कालनिर्धारक है। भाषा विकसित होती गढ़ी नहीं जाती है श्रमण वर्ग द्वारा प्रयुक्त भाषा संस्कृत से प्राचीन है।[8] परम्पराएं जो संस्कृति के रूप में समाज में विद्यमान रहती है, जिसे बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता है, उसकी विद्यमानता किसी न किसी रूप में देखी जाती है, यहाँ इन दोनों सांस्कृतिक परम्पराओं (श्रमण और ब्राह्मण) का ऐतिहासिक अध्ययन इन वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर किया जायेगा। आर्यो ने अपनी पूर्ववर्तिनी आर्येतर सभ्यता को ध्वस्त कर अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म और समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया। भाषा के रूप में संस्कृत, धार्मिक कर्मकाण्ड के रूप में यज्ञ और दास–दस्यु, विश्, जैसे–विभेदों में विभाजित समाज की रचना की। इस भाषाई, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का तत्कालीन समाज में बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्ति मिली, जिसका चरम परिणति श्रमण धर्म अर्थात जैन और बौद्ध धर्म का अभ्युदय था।[9] अब श्रमण संस्कृति एक धर्म का रूप ग्रहण किया।

भारत की प्राचीन संस्कृति में योग का अन्यतम स्थान था। इस यौगिक संस्कृति का मूल केन्द्र सिन्धु प्रदेश था। योगीश्वर की पूजा सैन्धव धर्म का साम्प्रदायिक पक्ष था। योगक्रिया उसका सांस्कृतिक पक्ष था। विद्वानों ने पौराणिक वर्णनों के आधार पर जिसे शिव कहा है।[10] यह अच्छी तरह ज्ञात है कि वैदिक आर्यो के वेद, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा तत्कालीन अन्य वैदिक ग्रन्थों में योग की कोई चर्चा नहीं है। वैदिकों ने यज्ञ को ही महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उपनिषद् काल में वेदों का बौद्धिक अध्ययन हुआ पर वहाँ भी योगविद्या निवृत्ति का माध्यम नहीं बन सका। योग प्रक्रिया का प्रथम प्रकाशन कपिल के सांख्य में ही दृष्टिगत होता है। पतंजलि ने उसे नये कलेवर में प्रस्तुत किया। छठी शताब्दी ई पू. जैन और बौद्ध धर्म में योग का (ध्यान और समाधि) सांगोपांग समर्थन और यज्ञ का विरोध स्पष्ट था। सिन्धु सभ्यता के प्रकाशित होने के बाद प्रायः सभी विद्वानों ने यति, मुनि, श्रमण धर्म का सम्बन्ध सैन्धव संस्कृति से करते हैं।[11] यह भी सत्य है कि वैदिक काल में वैदिकों द्वारा धार्मिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिन्धु सभ्यता से लिये गये हैं, जिसमें योगीश्वर की पूजा एवं योगाभ्यास जो कि आसन और मुद्रा से संकेतित होता है, वैदिकों में उपनिषद् काल तक अदृश्य है। उपनिषदों[12] का विकास जिसमें जगत के मूल कर्ता ईश्वर है और जगत के मूल उपादान पृथ्वी, जल, वायु, आकाश जैसे प्राकृतिक तत्त्वों को बताया गया। यहाँ वैयक्तिकता गौण है। शील आचरण दृष्टिगत होता है पर शीलपालन का विपाक ईश्वर के हाथ है। उपनिषद् योग और कैवल्य की धारा से अक्षुण्ण ही है। योगविद्या की प्राचीनता का संकेत जैन और बौद्ध धर्म में समग्रतया मिलते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता आर्यो से सम्बद्ध है। भारत भूमि में जिसकाविकास आर्यो के आगमन के साथ हुआ। यज्ञ उनका कर्मकाण्ड था। आर्यो के आगमन के पूर्व भारत की अपनी सभ्यता सैन्धव सभ्यता थी, जिसकी धार्मिक पहचान योग था। योग, ध्यान, साधना उनका धार्मिक कर्मकाण्ड था। मोक्ष, निर्वाण और कैवल्य की प्राप्ति चरम लक्ष्य था। बौद्ध युग तक आते आते इन दोनों सभ्यताओं की सांस्कृतिक धाराएं श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति की रूप में एक दूसरे के सामानान्तर विकसित होती हुई अग्रसर बढ़ती रही है।

दोनों संस्कृतियों की अपनी अपनी पहचान स्पष्ट है। एक में यज्ञ और दूसरे में योग अपने मूल रूप में आजतक अवशिष्ट है। हिन्दुओं के पूजा–पाठ के बाद हवन और बलि की प्रथा है। बौद्धों और जैनों के कार्यक्रम में प्रारंभ या अन्त में कुछ क्षणों के लिए विपश्यना ध्यान कराया जाता है।

प्राचीन यति, मुनि और श्रमण[13]

वैदिक ब्राह्मण समाज की सांस्कृतिक पर्यन्त भूमि में भी मुनियों, यतियों,श्रमणों और योगियों का एक निराला वर्ग था, जिन्हें योगविद्या से परिचय होने के कारण कदाचित पिछली सैन्धव संस्कृति से अन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। ये मुनि और श्रमण ब्राह्मणेतर थे। यह भी सत्य है कि ये वैदिक संस्कृति के अनभ्यन्तर थे। ब्राह्मण और श्रमण परस्पर विभक्त और विरोधी थे।[14] ऋसंहिता से ज्ञात होता है कि निवृत्तिपरक क्लेश लक्षण तपस्वी वैदिकों के जीवन दर्शन के विरुद्ध था। योगजन्य सिद्धियों से वैदिक लोग अपरिचित थे। इसलिए मुनियों का आचरण ऋषियों को विचित्र लगता था। ई.पू. चतुर्थ शताब्दी में युनानियों ने उनके विभेद का उल्लेख किया है।[15] महाभाष्यकार पतंजलि ने दोनों का शाश्वत विरोध बताया है।[16] विभेद और विरोध का एकमात्र कारण योग था। ये प्रायः दुखवादी, निवृत्तिवादी, निरीश्वरवादी, जीववादी और क्रियावादी थे। उनकी दार्शनिक निष्ठा का मूल आधार संसारवाद था। वैदिकों के द्वारा आंशिक रुप से श्रमणों की परम्परा आत्मसात किये गये हैं, इसके प्रमाण स्वयं वेद में भी देखे जाते है। ऋसंहिता के केशीसूक्त में मुनियों का विलक्षण चित्र का उल्लेख है। जूति, वातजूति, विप्रजूति, वृषाणक, करिकृत, एत्तश और ऋषिश्रंग आदि ब्राह्मण परम्परा के तपस्वी थे अर्थात् योगी थे। ये तपस्वी वैदिकों के देवता भी थे। एत्तरेय ब्राह्मण में एत्तेश मुनि का उल्लेख मिलता है।[17] गंगा यमुना के मुनियों को नमस्कार किया गया है।[18] ताण्ड्य संहिता में मुनिमरण नामक स्थान का उल्लेख है और यतियों को इन्द्र का शत्रु कहा गया है।[19] उत्तर काल में यति का अर्थ तापस था। मुण्डकोपनिषद् यज्ञ विधि के निंदक मुण्डित शिर वाले तापसों की कृति है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि मुनि, श्रमण, यति, ब्राह्मण प्रधान वैदिक संस्कृति से भिन्न थे, एक प्राचीन और उद्दात आध्यात्मिक परम्परा के उन्मूलित अवशेष थे। पतंजलि तक आते आते श्रमणों और ब्राह्मणों का विरोध पराकाष्ठा पर था। पुष्यमित्र के राजकीय घोषणा के साथ कि ''जो हमें एक श्रमण का सिर देगा,उसे मैं सौ सोने का सिक्का दूंगा''। इस घोषणा के फलस्वरूप श्रमण धर्म और संस्कृति के पोषक अल्पसंख्यक हो गये और अन्य ब्राह्मण धर्मो में मिलकर समाज में रहने लगे। शंकराचार्य ने श्रमण धर्म को वैदिक धर्म के साथ मिलाकार एक नवीन दर्शन का जन्म दिया। इस समय भी कट्टर बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया गया। इसकी पुष्टि माध्वाचार्य की''शंकर दिग्विजय'' नामक पुस्तक से होती है। शंकराचार्य ने कहा कि वैदिक धर्म द्विविध है– प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण। पूर्व वैदिककालीन ब्राह्मण केवल प्रवृत्तिलक्षण वाले थे। इस समय निवृत्तिलक्षण वाले केवल यति, मुनि और श्रमण ही थे। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध भी कहते हैं। शंकराचार्य ने वैदिक और श्रमण संस्कृति को एकीकृत कर सर्वमान्य भारतीय संस्कृति के रूप में स्थापित किया। जो एक बड़े वर्ग के द्वारा स्वीकार किया गया। इस समय तक वैदिकों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और श्रमण संस्कृति में भी अनेक देवी देवताओं का विकास हो चुका था।

श्रमणों और वैदिकों की समय सीमा

पुरातात्त्विक दृष्टि से सैन्धव संस्कृति वैदिक संस्कृति से प्राचीन सावित होती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा निर्धारित समय सीमानिम्न प्रकार हैः–

सैन्धव युग की समय सीमा	वैदिक युग की समय सीमा
मार्शल–3250–2750 ई.पू.[24]	पार्जिटर –2100 से 1400 ई.पू.
मैके–2500–2800 ई.पू.[25]	गोयल–1450 ई.पू.
वत्स– 3500–2000 ई.पू.[26]	गुप्त–1800–1700 ई.पू.
व्हीलर– 2500–1500 ई.पू.[27]	
फेवरसर्विस –2000–1500 ई.पू.	
आल्चीन दंपति – 2150–1750 ई.पू.[28]	
बुकानन –2300–2000 ई.पू.	
धर्मपाल – 2300–1750 ई.पू.[29]	
बुली–3500–3200 ई.पू.	

ऊपर के सारणियों से स्पष्ट है कि वैदिकों के समय सीमा को विदेशी विद्वानों ने अध्ययन करने में दिलचस्पी नहीं दिखाई। विदेशी विद्वान पौराणिक ग्रथों को ऐतिहासिक घटना नहीं मानते हैं। भारतीय विद्वानों द्वारा दिये गये तर्को के आधार पर वैदिक काल की समय सीमा सैन्धव काल से बाद की सावित होती है। पुसालकर ने वैदिक युगों को तीन भागों में बांटा है, इनमें प्रथम युग को ययाति युग कहा है, जिसकी तिथि 3000–2750 ई. पू. रखा है। यह ययाति युग ही सैन्धव सभ्यता

का युग है। इस समय सीमा के अन्तर्गत यति, मुनि और श्रमण संस्कृति का प्रभाव देखकर पुसालकर द्वारा ययाति युग नाम दिया गया है।

पार्जिटर महाभारत युद्ध का समय 1400 ई. पू. मानते हैं। महाभारत युद्ध के अनन्तर उत्तर भारत में पौख, कोशल, मगध आदि प्रमुख राजवंश हुए। मगध में बिम्बिसार और उसका पुत्र आजातशत्रु, कोसल नरेश प्रसेनजीत, वत्सराज उदयन और अवन्ति नरेश ण्डप्रद्योत–ये सब बुद्ध महावीर के समकालीन थे।

गोयल जैसे कुछ विद्वानों ने पार्जिटर के आधार पर वैदिकों का आगमन 2100 ई.पू. मानते हैं। इस आधार पर महाभारत युद्ध का समय 925 ई. पू. निर्धारित किया है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि वैदिकों का समय श्रमणों के बाद का है। गोयल के अनुसार आर्यो का प्रवेश और सैन्धव सभ्यता का विनाश साथ–साथ हुआ। यहाँ दोनों के एक साथ रहने का कोई प्रमाण नहीं है। रंगपुर और लोथल से जो साक्ष्य मिले हैं जिससे स्पष्ट होता है कि यहाँ सैन्धव संस्कृति का आकस्मिक अन्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार रोपर और आलमगीर पुर में सैन्धव और वैदिक सभ्यता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं।। इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि रंगपुर, लोथल और रोपर मोहन जोदड़ो और हड़प्पा से लगभग 1500 वर्ष बाद नष्ट हुआ है। उस समय सैन्धवों पर आर्यो द्वारा पूर्ण अधिकार कर लिया गया था। वैदिक लोग श्रमण संस्कृति के कुछ तत्व अपना चुके थे और श्रमण लोग वैदिकों के संस्कृतियों को बिना अपनाये जीवित नहीं रह सकते थे, इसलिए श्रमणों के लिए वैदिक संस्कृति को अपनाना वेवशी थी। यही कारण है कि ऊपर के स्थलों की खुदाई में आर्यो और श्रमणों को एक साथ रहने के प्रमाण मिलते हैं। यह कहना गलत होगा कि दोनों का विकास भारत भूमि पर हुआ जैसा कि आज के पुरावत्त्वविद इसे प्रमाणित करने में लगे हैं। इस संदर्भ में इस विचार को बल मिलता है कि सैन्धव परम्परा के अनेक तत्त्व बाद में आर्य संस्कृति द्वारा अपना लिए गये हों। कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों के दर्शन तो बाद में हिन्दु धर्म में भी दिखाई पड़ते है, इसमें शिव और रुद्रों की पूजा प्रमुख है। गोयल ने अनेक तर्को से वैदिकयुगीन दाशराज्ञ युद्ध का समय 1400 ई.पू. तथा महाभारत युद्ध का समय 925 ई.पू. निर्धारित किया है।[33] तात्पर्य यह कि वैदिकों का भारत से सम्बन्धित घटना क्रम निश्चित रूप से सैन्धवों के बाद का है।

पातञ्जिलयोगदर्शन

विद्वानों का एक वर्ग योग से सम्बन्धित उपलब्ध समग्र रचनाओं में पातञ्जिलयोग को प्रथम और प्रामाणिक मानते हैं। पतञ्जिलि का समय ई.पू. प्रथम शताब्दी है। वस्तुतः पतञ्जिलि तक आते–आते योग शास्त्र सहस्राब्दों का सफर पूरा कर चुका था। भारत में योग का विचार अपने मूल रूप में अति प्राचीन है। आचार्य पतञ्जिलि ने प्राचीन ग्रन्थों में विखरे हुए योग सम्बन्धी विचारों को संग्रह कर अपनी प्रतिभा से दार्शनिक रूप प्रदान किया। जिस दर्शन की आवश्यकता श्रमणपरम्परा के विचारों को दवाने और वैदिक परम्परा के विचारों को सर्वसुलभ एवं सर्वग्राह्य बनाने के लिए आवश्यक था। योग की परम्परा पूर्णरूप से भारतीय है। इसमें संदेह नहीं कि वैदिकों के भारत आने के पूर्व भारत भूमि पर योग बहुत लोकप्रिय था। इस लोकप्रियता के कारण वैदिकों ने अपने दैनिक जीवन में शामिल किया। यह कटु सत्य है कि योग प्रवृत्तिमार्गीश्रमणों का मोक्ष प्राप्ति का साधन था। इसे विद्वानों ने स्वीकार किया है। डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का विचार यहाँ दृष्टव्य है। उनका कथनहै कि ''हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त चिह्नों से भी उस काल में योग साधना के प्रचलित होने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है. सिन्धुघाटी की सभ्यता को अवैदिक मानने पर तो योग वेदों से भी पुरातन, अनार्य किन्तु भारतीय प्रक्रिया सिद्ध होती है। उस स्थिति में यह मानना होगा कि कपिल ने वैदिक आर्यो में सर्व प्रथम सांख्य योग की शिक्षा का प्रचार किया''। ए.वी. कीथ का कहना है कि सांख्य कारिका में सांख्य और योग के स्थान पर ध्यान और योग प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य शब्द समाधि के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सैन्धव सभ्यता के बाद महावीर और बुद्ध ने योग संस्कृति को आगे बढ़ाया। भारत की इस प्राचीन धरोहर को जन–जन तक पहुँचाया। मौर्य शासक के द्वारा राजकीयसंरक्षण मिला। मौर्य काल श्रमण संस्कृति के लिए स्वर्ण युग था। मौर्य काल में पालि द्धमागधीऋ को राष्ट्रभाषा के रूपमें प्रतिष्ठा मिली। बौद्ध धर्म को दुनिया में फैलने के लिए धर्मदूत भेजे गये। 84000 धर्म स्तूपों का निर्माण हुआ। विहारों और महाविहारों में योग की शिक्षा दी जाने लगी। शुंग वंश की स्थापना के साथ पालि (मगधी) के स्थान पर संस्कृत को राजकाज की भाषा बनायी गयी। योग के स्थान पर यज्ञ कराया जाने लगा। पुष्यमित्र शुंग के द्वारा अश्वमेघ यज्ञ कराये जाने के प्रमाण प्राप्त हैं।

उसके मुख्य कर्णधार पतंजलि था। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग का पुरोहित था। इसकी पुष्टि स्वयं पतंजलि ने अपने महाभाष्य में किया है– ''इह पुण्यमित्र याजयामः'' (यहाँ हम पुण्यमित्र के लिए यज्ञ कर रहे हैं।) इस प्रकार महाभाष्य के लेखन काल मेंयज्ञ का अनुष्ठान किया गया और सम्भवतः वैयाकरण ने उसमें पुरोहित का उत्तरदायित्व संभाला था। इस प्रकार पतञ्जिलि बुद्ध और महावीर के बाद सावित होते हैं। इस समय तक वैदिकों ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन में निर्वाण, मोक्ष और कैवल्य को आत्मसात कर चुका था। श्रमणों के साथ–साथ ब्राह्मणों ने भी भवचक्र के बन्धनों को काटकर निवार्ण प्राप्त करना चाहते थे। पातञ्जिलयोग का कैवल्यपाद इसका प्रबल उदाहरण है। वैदिकों द्वारा योग को अपने आध्यात्मिक जीवन में शामिल करने का संकेत उत्तर वैदिक काल में मिलते हैं। इस काल तक इनके लिए योग का लक्ष्य निर्वाणगामी न होकर विभूति प्राप्ति था। श्रुति परम्परा में आये, योग ग्रन्थों के संकलनकर्ता पहले समाधिपाद, साधनवाद और विभूतिपाद नामक तीन ही पादों को योगशास्त्र के रूप में संकलित किया था। महर्षि पतंजलि ने ही प्रथमवार चतुर्थपाद के रूप में कैवल्यपाद को योगशास्त्र में सम्मिलित किया है। अब तक वैदिकों के धार्मिक कृत्यों का मुख्य लक्ष्य ऐश्वर्य प्राप्ति था। इस लक्ष्य की प्राप्ति विभूतिपाद नामक तृतीय अध्याय में हो जाता है। इस आशय का संकेत ग्रन्थ की समाप्ति के रूप में इति शब्द का प्रयोग के द्वारा स्पष्ट है।[37] कैवल्य पाद मूल ग्रन्थ का भाग ही नहीं है बल्कि परवर्ती प्रक्षेप है। वह प्रक्षेप पतंजलि द्वारा जोड़ा गया है। कारण कि पतंजलि खूब समझते थे कि श्रमणों को समाप्त कर दिये जाने पर श्रमण परम्परा के अनुयायिओं के बीच प्रचलित निर्वाण गामी योग को अपने कर्मकाण्ड में शामिल कर ही उनके ऊपर शासन किया जा सकता था। नहींतो विद्रोह की सम्भावना थी क्योंकि पुष्यमित्र द्वारा सत्ता का हस्तांतरण शैन्य कार्रवाई के द्वारा किया गया था। इसलिए पतंजलि ने श्रमणों के कर्मकाण्ड योग को कैवल्य प्राप्ति का मार्ग प्रक्षेपक के रुप में योग शास्त्र में जोड़ा। पहले उसे विभूतिपाद नामक तृतीय अध्याय में ही समाप्त कर दिया गया था। आर्यो का एकमात्र उद्देश्य विभूति (ऐश्वर्य) की प्राप्ति थी। वे निर्वाण से बिल्कुल ही अनभिज्ञ थे।

संक्षेप में उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि योग भारतीय परम्परा का अंग है। कैवल्य प्राप्ति उसका उद्देश्य है। इस परम्परा का प्रारम्भिक संकेत मोहन जोदड़ो और हडप्पा में पाया गया है। आर्यो के आक्रमण ने भी इसे समाप्त नहीं कर सका बल्कि आर्यो ने इसकी महत्ता को देखते हुए अपने दैनिक जीवन के क्रिया–कलापों में सम्मिलित किया इसके विपरीत श्रमणों ने यज्ञ को अपने दैनिक जीवन में कोई स्थान नहीं दिया। संस्कृति सभ्यता का सूक्ष्म तत्व होता है। डी. एन. ए. की तरह वंशानुक्रम अर्थात पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा के रूप में वर्तमान रहता है। सामाजिक परम्परा में पूर्ण उच्छेद सम्भव नहीं है इसलिए श्रमणों और ब्राह्मणों की संस्कृति में योग और यज्ञ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपस्थिति आज भी है, यद्यपि कि दोनों का शाश्वतिक विरोध है।

संदर्भ–ग्रंथ सूचीः

1 विश्व धर्म दर्शन, सांवलिया विहारी लाल वर्मा, पृष्ठ–3
2. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
3. स्टडीज इन द ओरिजन्स ऑव बुद्धिज्म, डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ–289–90
4. क. आर. ई. एम. ब्हीलर, हड़प्पा 1946 (आर्कलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया का वार्षिक रिपोर्ट)।
5. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय पृ.– 1 तुलनीय– पिगट, प्रिहिस्टिरिक इण्डिया– पृ. 257–258
6. दृष्ठव्य. डॉर्विन का विकासवादी सिद्धान्त
7. डॉ. इन्द्र चन्द्र शास्त्री द्वारा किया गया ''पालि भाषा और साहित्य'' नामक अनुवाद पृष्ठ–1
8. स्टडीज इन द ओरिजन्स ऑव बुद्धिज्म, अध्याय–8
9. जे. मार्शल, मोहनजोदडो एण्ड इण्ड्सवैली सिविलाइजेशन खण्ड–1, लन्दन
10. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग–1 पृष्ठ–20–21 पंडित वेचन दास जोशी
11. ब्रह्म सत्यम् जगन्नमिथ्या, अहम् ब्रह्ममास्मि आदि–आदि
12. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ–23
13. अष्टध्यायी में कुमार श्रमणदिभिः 2।1।70 कुमारश्चं, 6।2।26 सूत्र है। श्रौत्र सूत्रों में श्रमण का प्रयोग भिक्षु मात्र के लिए है, बौद्धायन में मुनि को श्रमण कहा गया है।–पाणिनि कालीन भारत वर्ष, पृष्ठ– 377
14. मैकक्रिण्डल, एण्शिएण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड वाइ मेगाास्थनीज एण्ड एरियन, पृष्ठ–97–105
15. पतंजलि महाभाष्य, 2,4,9
16. वैदिक इण्डेक्स, जिल्द–2 पृष्ठ–167
17. तैत्रिरीय आरण्यक जिल्द–1, पृष्ठ–87,137–138
18. ताण्ड्य संहिता, जिल्द–1, पृष्ठ–208
19. मुण्डकोपनिषद–2,3,6

बौद्ध प्रबन्धन की विशेषताएँ

डा. लाल सिंह बौद्ध

बौद्ध साहित्य और बौद्ध ज्ञान, बौद्ध प्रबन्धन का ही द्योतक है। बौद्ध धर्म के चिरकाल तक चलते रहने का कारण भी बौद्ध प्रबन्धन ही है। जैसे पानी की एक बूंद सुमद्र का रूप ले लेती है उसी प्रकार बौद्ध साहित्य में बौद्ध प्रबन्धन भी छोटे से नियम के तौर पर विशाल बौद्ध संघ का बांधे रखने में सक्षम दिखाई पड़ता है। बौद्ध प्रबन्धन की अनेक विशषताएँ हैं। अनुशासन ही बौद्ध प्रबन्धन की रीढ़ की हड्डी नजर आता है। बुद्ध, धम्म, तथा संघ बौद्ध प्रबन्धन के तीन तिपाए हैं। धम्म को मजबूत करने के लिए धम्म को ठीक से जानना आवश्यक बताया गया है तथा धम्म को ठीक से जानने के लिए छः बातों को जानना आवश्यक बताया है। धम्म को जानने के लिए जानने की इच्छा होनी चाहिए। धम्म को पूरी एकाग्रता से सुनना चाहिए, धम्म को अनुभति करने के भाव से मन को लगना चाहिए, धम्म में कही हुई बात को ग्रहण करना चाहिए जो बात अनावश्यक हो उसे अलग कर देना चाहिए तथा आवश्यक बातों को अपने जीवन में उतारना चाहिए। बुद्ध ने अपने जीवन काल में जिन प्रबन्धन संबंधी बातों को अपनाया उन्हें विनय पिटक नामक बौद्ध ग्रंथ में संग्रहित किया गया है तथा उस संग्रहीत बौद्ध साहित्य से मिले साक्ष्यों के अनुसार बौद्ध प्रबन्धन की निम्न विशेषताएँ हैं –

1. बौद्ध प्रबन्धन में स्थानीय भाषा 'पाली' का इस्तेमाल किया गया। यह उस समय की आम लोगों की भाषा थी। मगध राज्य में इस भाषा का इस्तेमाल होता था इसलिए उसे मगधी भी कहते थे। इसलिए आज हमें जिस प्रांत में भी धम्म प्रचार करना हो वहाँ उसी प्रांत की भाषा का इस्तेमाल करना चाहिए।

2. बुद्ध ने संघ में सभी वर्गो एवं वर्णो के लोगों को प्रवेश दिया तथा प्रवेश के बाद अपनी पुरानी पहचान को छोड़ने के लिए भी कहा। उन्होंने कहा कि मेरा संघ उस समुद्र की तरह है जिसमें नदी के पानी के गिरने के बाद अलग पहचान नहीं रहती। इसलिए उनका संघ जाति और वर्ण विहीन था।

3. उपदेशों का सरल होना : बुद्ध न तथा उनके भिक्षुओं ने उस समय जो भी धम्म उपदेश दिये, वे सब बहुत ही सरल भाषा व सरल भाव में दिए गये थे। यही कारण था कि बुद्ध का संघ उनके समय में ही देश के ज्यादातर हिस्सों में फैल गया। यह बौद्ध धर्म का कुशल प्रबन्धन ही था जोकि पूरे एशिया में और अब पूरे विश्व में सहज भाव से अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रहा है। सभी धर्मो में से स्वतंत्रप्रवृति के लोग स्वतः ही बुद्ध के वैज्ञानिक मार्ग के प्रति आकृर्षित हो रहे हें। मन शुद्धि को ही जीवन जीने की शैली का आधार बनाना चाहते हैं।

बुद्ध ने संघ की स्थापना के लिए अपने पुराने साथियों को जोड़ा जो उन्हें बीच में ही छोड़ कर आ गये थे। बुद्ध ने अपने पुराने साथियों का अपने प्रबन्धन में उपयोग किया जिससे समाज को भी लाभ हुआ तथा उन्हें स्वयं भी लाभ आ। इसीलिए पुराने भिक्षुओं का प्रबन्धन में विशेष स्थान रहा। विवेकशील उपासकों को भी विशेष स्थान बुद्ध ने दिया। यह भी बौद्ध प्रबन्धन की मौलिक विशेषता बन गई।

बौद्ध प्रबन्धन में बुद्ध, धम्म तथा संघ ढ़ांचा है तो दया व करूणा प्रबन्धन का मुख्य भाव है। ध्यान से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, निरविचार हो जाता है। यह करूणा ही पूरे प्रबन्धन का केन्द्र बिन्दु है। मैत्री भाव ने सभी का यहाँ मन जीता है। मैत्री भाव से अन्दर का अपना भी तथा दूसरों का भी द्वेष कम होता जाता है।

बौद्ध प्रबन्धन में शील के पालन पर जोर दिया जाता है इससे चोरी कम हो जाती है। जिन उद्योग में मजदूरों ने विपश्यना कोर्स किये हैं और वहाँ विपश्यना केन्द्रों पर बौद्ध प्रबन्धन देखा है, उस उद्योग में उत्पाद बढ़ा है, खर्चा घटा है, मुनाफा बढ़ा है, आपसी झगड़े कम हुए हें। निरीक्षण स्टाफ कम किया गया फिर भी काम ठीक चला है। मालिक–मजदूर, संबंधों में मधुरता आई। मानवीय दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी गई। मजदूरों का वेतन बढ़ा।

बौद्ध प्रबन्धन नेचर फ्रैंडली है। प्रकृति को कम से कम छेड़ता है। जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी के संतुलन को महत्व देता है। इससे औद्योगिक वेस्ट की समस्या कम होती है। यहाँ तक कि एक भिक्षु का चीवर भी किसान के खेतों के आकार का बनाया जाता है। सीमित आवश्यकता का विचार भी प्रकृति को कम

छेड़ता है और प्राकृतिक संतुलन बनाये रखता है। सब कुछ अनित्य है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। प्रबन्धन में कार्य हा रहा है ना कि मैं कार्य कर रहा हूँ का भाव होता है। इस भाव से आपसी टकराव नहीं होता। ईर्ष्या–द्वेष नहीं होता तथा आपसी सहयोग और भाई–चारे का माहौल बना रहता है। अहं के कारण ही आपसी झगड़े होते हैं।

संघ की पात्रता के नियम में अपात्र को प्रवेश ही नहीं था जिससे संघ सुव्यवस्थित चलता रहा। अपात्रता के नियम में संघ में प्रवेश के लिए माता–पिता की आज्ञा आवश्यक थी। अपराधियों व कुछ मिर्गी, कोढ़ इत्यादि बीमारी के मरीजों का प्रवेश निषेध था।

धर्म 'विनय पिटक' के व्यावहारिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता था जबकि संघ 'सगठन शक्ति' का, भाई–चारे, सामूहिकता, एकता एवं संकल्प का प्रतीक था। यह संघ नियमों और गुणों से ओत–प्रोत था तथा भिक्षु इन नियमों पर चलकर अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरन्तर अग्रसर रहते थे। भिक्षुओं को नियंत्रण में रखने के लिए उपोस्थ के नियम बनाये गये। ये नियम भिक्षु–भिक्षुणियों के लिए संयत जीवन जीने के लिए बनाये गये। यही बौद्धों का प्रबन्धन का स्वरूप था।

प्रबन्धन के ये नियम मगधी भाषा (पालीद्ध में स्मरण रखे गये तथा गुरू–शिष्य परम्परा के तहत पीढ़ी–दर–पीढ़ी आगे चलते रहे। इन प्रबन्धन के नियमों को बुद्ध के 400 साल बाद सिंघल के राजा बट्टगामणी के काल में 'पालि–त्रिपिटक' लिखा गया। तब से अब तक ये बुद्ध ग्रंथ ही संघ नायक का काम करते रहे। बुद्ध के परिनिर्वाण के समय जब पूछा गया कि आप के बाद संघ को कौन संचालित करेगा तब भगवान ने कहा, कि आनन्द! स्वदीप बनो, स्वयं की शरण में जाओ, अपने धर्म दीप स्वयं बन कर विहार करो। यहाँ बुद्ध का अनुशासन, स्व–अनुशासन की ओर संकेत करता है। जो स्वयं अनुशासित रहेगा वही संघ को भी अनुशासित रखेगा यह स्व–अनुशासन ही मनुष्य के जीवन मे निखार उत्पन्न करता है। बिना लोभ, लालच, मोह के भी नया जोश नया निखार उत्पन्न करता है। इसी प्रबन्धन में मनुष्य का विकास तथा समाज का विकास निहित है। बौद्ध प्रबन्धन मे छिपे हुए विशिष्ट लक्षण ही इस विशेष स्थान पर खड़ा कर देते हैं। यही बौद्ध प्रबन्धन की विशेषताएँ हैं।

बोधिसत्तस्स अधिट्ठानं

''काम तचो च न्हारू च, अट्ठि च अवसिस्सतु
उपसुस्सतु निस्सेसं सरीरे मंसलोहित'' ति–
चतुरंगवीरीयं अधिट्ठहित्वा
''न दानि बुद्धत्तं अपापुणित्वा
पल्लंकं भिन्दिस्सामि'' ति

–बोधिसत्तो सिद्धत्थो

पटिज्ञं कत्वा अपराजितपल्लंके निसीदि।''

अर्थात ''चाहे मेरी इंद्रियाँ, त्वचा, स्नायु अस्थियाँ सूख जाए, चाहे मेरा खून, मांस के बिना निशेष ही क्यों न रह जाए, वीर्यवान हो चतुरंग सम्पत्र अधिष्ठान का संकल्प कर आसन को तब तक नहीं छोडूंगा जब तक मैं बुद्धत्त्व न प्राप्त कर लूं।'' ऐसी प्रतिज्ञा कर बोधिसत्त आसन पर बैठे।

विपश्यना पर आधारित समता धर्म

डॉ संघमित्रा बौद्ध सम्पादिका, बोधि-पथ।

समता का शाब्दिक अर्थ है समानता, अर्थात् सभी प्राणियों में समभाव या समदृष्टि रखना ही समता है। समता चार 'ब्रह्मविहारों' (मेत्ता अर्थात् मैत्री, करूणा, मुदिता तथा उपेक्खा अर्थात् उपेक्षा) में चतुर्थ के समानार्थक है। बुद्ध धर्म में इन चारों भावनाओं पर चित्त को समाहित करने का उपदेश दिया गया है 1। समता धर्म है, विषमता अधर्म। समता अनासाक्ति है और विषमता आसक्ति का साकार स्वरूप। जहाँ आसक्ति है वहाँ दुःख का आगमन अवश्य ही होगा और जहाँ अनासाक्ति है वहीं सच्चा सुख और सच्ची शाान्ति है।

भगवान् बुद्ध के अनुसार धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी स्त्री एवं पुरूषों में समान योग्यता एवं अधिकार है। इतना ही नहीं, शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका के क्षेत्र में भी वे समानता के पक्षधर थे। उनके अनुसार एक मानव का दूसरे मानव के प्रति व्यवहार मानवता के आधार परहोना चाहिए न कि जाति, वर्ण और लिंग के आधार पर। क्योंकि सभी प्राणी समान रूप से दुःखी हैं अतः सब समान हैं। दुःख प्रहाण ही उनके धर्म का प्रयोजन है। समवेदना ओर सहानुभूति ही इस समता के आधारभूत तत्व हैं। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम, रूप और वि ोषताएं खो देती हैं, उसी प्रकार मानवमात्र बुद्ध-संघ में प्रविष्ट होकर जाति, वर्ण-भेद को समाप्तकर एक समान हो जाते हैं। निर्वाण ही बुद्ध-धर्म का एकमात्र रस है। निर्वाण आध्यात्मिक साधना की वह चरमसीमा है जहाँ समस्त तृष्णा का क्षय हो जाता है। वह स्थिति अतिन्द्रिय परमसुखकारी है- निब्बाणं परमं सुखं 2 पालि साहित्य में निब्बाण व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है- बानतो निक्खतं ति निब्बानं। बान का अर्थ है तृष्णा और निक्खतं का अर्थ निकलना या निष्क्रमण है अर्थात् तृष्णा का क्षय हो जाना ही निर्वाण है।

साधक जब ध्यान-साधना के माध्यम से स्वयं का साक्षात्कार करता है तब शरीर पर आधारित इस चित्तधारा में विविध कारणों से समय-समय पर सुखद और दुखद दोनों ही प्रकार की संवेदनाएं प्रकट होती रहती हैं। सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग उत्पन्न होता है, परिणमतः उसे स्थिर रखने के लिए हम आतुर हो उठते हैं। वह छूट न जाय, इस निमित्त आशंकित-आतंकित हो उठते हैं। परंतु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है। और जब दुखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति द्वेश जागता है और उसे दूर करने लिए हम व्याकुल हो उठते हैं! क्या यह कभी दूर नहीं होगी ? इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बेचैन में जकड़ जाते हैं। दोनो ही अवस्था में अशांत-बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती है तथा साथ ही असुरक्षा की भावना भी जागती है। कभी-कभी मन भी अपना संतुलन खो बैठता है। यही विषमता है। सुखद-दुखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहिन रहता हो तो ही अनासक्त रहता है। सदा सुरक्षित महसूस करता है, अपना संतुलन नहीं खोता, शांत रहता है। सुखद-दुखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक रह कर भी अविचलित रहना ही समता है।3

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है, पलायन भी नहीं है, जीवन-विमुख होना भी नहीं है। समता धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। यदि हम विषयों से दूर भागने के बजाय विषयों से उत्पन्न होने वाले विकारों को समता से, अनासक्ति से देखें तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर सकते हैं। समता से, अनासक्ति से देखना ही विशेषरूप से देखना है, प्रज्ञापुर्वक देखना अर्थात् सम्यक् दृष्टि से देखना है। यही विदर्शना अथवा विपश्यना है। जब दृष्टि समतायुक्त हो जाती है तब ''मैं-मेरे'' और ''राग-द्वेष'' का अन्तर समाप्त हो, जो जैसा है वैसा ही दीखता है। ओर तब हम अज्ञानता को दूरकर ज्ञान रूपी समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर जो कुछ करते हैं वह शुद्ध क्रिया ही होती है, प्रतिक्रिया नहीं इसलिए कल्याणकारी और शुभकारी है। जब भीतर चित्तधारा में उठने वाली सुखद-दुखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है बाह्य जीवन में सहज समता प्रकट होने लगती है। फलस्वरूप बाह्य जगत की विषम परिस्थितियों को सहने में भी समर्थ हो जाते हैं।

आंतरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है, मिथ्या भय दूर होता है, जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है। अगले क्षण क्या हो इसके लिए मन चिंतित, व्यथित नहीं होता ? निरर्थक चिंताओं से विमुक्ति प्राप्त होती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रयास,

जीवन जगत की सतत प्रवाहमान धारा को रोक रखने का उन्मत्त आग्रह, 'मेरा' बनाए रखने का निरर्थक प्रयत्न सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता–विषमता स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। निरन्तर कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्चिंता आती है और साथ–साथ व्यवहार कौशल्य में प्रौढ़ता भी आती है। यही समता धर्म का मंगल परिणाम है। जब समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कर्मों में भी शुद्धता आती है, उनमें सामंजस्य आता है। परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। ताल–स्वर–लय की समता में जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन–वाणी–शरीर के कर्मों की समता में भी तन्मयता आती है। परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है, श्रेष्ठ है।

समता–धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है। समता–धर्म आत्म–मंगल और पर–मंगल के समन्वय सामंजस्य का धर्म है। समतापूर्ण जीवन जीने वाले व्यक्ति का अहंभाव नष्ट होता है परिणामतः वह स्वस्थ जीवन का अधिकारी होता है। समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह–सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज भाव से ही आ जाते हैं। इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

यदि समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हितसाधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दीये की लौ स्वयं जलती है पर बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है। धूप बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में सब को सुवास ही देती है। चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में सब के लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष स्वयं पत्थर की मार सहता है परबदले में सब को फल ही देता है। और यह सब कुछ सहजभाव से होता है समता की सहजता को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है :–

समता चित्त का धर्म है, स्थिर स्वधर्म हो जाय।

तो जीवन सुख–शांति से, मंगल से भर जाय।।4

संदर्भ संकेत :

1. विसुद्धिमग्ग – पृ. 200,221
2. मझिम निकाय – 2.3.5
3. समता धर्म – सत्यानारायण गोयनका, vri series-114
4. वहीं

धर्म अर्थात शील, समाधि, प्रज्ञा अपने आप में पूर्ण हैं- केवलं परिपूण्णं। इसमें कुछ जोड़ने के आवश्कता नहीं- न अंधमान्यता, न मतांधता, न रहस्यवाद, न थोथे कर्मकांड। ऐसे किसी तत्व को जोड़ा कि धर्म ओछा और दूषित हो जाएगा। यह अपनी शक्ति खो देगा, प्रभाव खो देगा। इसलिए धर्म में किसी प्रकार का मिश्रण किए बिना परिपूर्ण रूप से अपनाओं और शुद्ध धर्म के असीम लाभ भोगो।

शील, समाधि, प्रज्ञा वाला धर्म अति विशुद्ध है- केवलं परिसुद्धं। इसमें से कुछ भी अशुद्ध मानकर निकालना नहीं। शील, समाधि, प्रज्ञा में कोई अशुद्धि नहीं है।

धर्म के तीनों तत्व धर्म को अति विशुद्ध बनाते हैं। धर्म की शुद्धता बनाये रखो और इसके तीनों तत्वों का परिश्रमपूर्वक अभ्यास करो। विशुद्ध धर्म के श्रेष्ठ फलों का उपभोग करो।

सयाजी स० ना० गोयन्का

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में उत्पन्न बाधाएँ

डॉ0 कामेश्वर प्रसाद, एम0ए0, पीएच0डी0, पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च
(ICSSR New Delhi) नव नालन्दा महाविहार, नालंदा

ऐतिहासिक रूप से ब्राह्मणवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिसके अंदर 'मानव–श्रेष्ठता' या 'मानव–गरिमा' का विरोधी दर्शन और धर्म है, जिसमें विभिन्न प्रकार के संस्कार आादि सम्मिलित हैं। वैदिक साहित्य उससे भरा पड़ा हैं। वह इन संस्कारों के माध्यम से एक समाज–व्यवस्था प्रदान करता है और सामाजिक सरोकारों के मानदण्ड प्रस्तुत करता है। स्पष्टतः ब्राह्मणवाद एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करता है, जिसकी रक्षा के लिए धर्म एक कवच है। ब्राह्मणवाद से तात्पर्य क्षत्रिय, ब्राह्मण या वैश्य आदि कहे जाने वाले तथाकथित वर्णो में आने वाली जातियों से ही मात्र नहीं है और न ही इसका यह तात्पर्य है कि तथाकथित शूद्र या वर्णेत्तर जातियां ब्राह्मणवाद की व्यवस्था में नहीं हैं। बल्कि इसका तात्पर्य एक ऐसे दृष्टिकोण से है, जो ऐसी व्यवस्था में विश्वास रखते हैं वह उसे बनाए रखना चाहते हैं, जो किसी वर्ग–विशेष के लिए हैं, जो मनुष्य की श्रेष्ठता या गरिमा को विखंडित करता है। वर्णव्यवस्था तो उस ब्राह्मणवाद का धार्मिक पोषण हैं।

ब्राह्मणवाद को केवल ब्राह्मण जाति से जोड़ना भी भारतीय इतिहास को गलत समझना होगा। प्रो. जोशी ने ब्राह्मणवाद को 'वैदिक–समाज' या 'वैदिक–संस्कृति' से जोड़ा है। एक ऐसी समाज–व्यवस्था या एक ऐसी संस्कृति जो एक विशेष वर्ग के स्वार्थ से जुड़ी रहीं है, जिसमें ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय और कुछ वैश्य जातियां रहीं हैं। इस प्रकार से ब्राह्मणवाद जीवन की वह प्रक्रिया है, जो समाज के हर स्तर पर ऊँच–नीच का भेदभाव खड़ा करती है, जिसके पक्षधर वैदिक आर्य जन या ऋषि लोग थे। जो उस समय के आचार–विचार से परिलक्षित होता है एवं आज के सामाजिक सरोकारों से जाना जा सकता है। स्पष्टतः ब्राह्मणवाद का अपना जीवन–दृष्टिकोण है, सामाजिक व्यवस्था है। कोई भी तथाकथित शूद्र या अछूत भी इस दृष्टि से ग्रसित हो सकता है। एवं द्विजत्व–प्राप्त जातियाँ भी। दूसरी ओर ब्राह्मण आदि द्विजत्व प्राप्त जातियों में उत्पन्न होकर भी कोई यह दृष्टिकोण नहीं रखता है, तो उसे ब्राह्मणवादी नहीं कहा जायेगा। यह ऐतिहासिक रूप से पुष्ट है। भारत का धार्मिक इतिहास स्पष्ट करता है कि वेदकालीन कई द्विजत्व प्राप्त जातियां और द्विजत्वच्युत जातियां जहां एक ओर ऐसा दृष्टिकोण या दर्शन अपनाए हुए थे, तो दूसरी ओर इन्हीं में से ऐसे भी थे जो इस जीवन–दर्शन से अन्य दृष्टिकोण या अन्य परम्परा को अपनाए हुए थे, जिसे प्रो. जोशी ने श्रमण कहा है और ऐसे दृष्टिकोण को 'श्रमणवादी' कहा गया हैं।

ब्राह्मणवाद की समझ हेतु जो मूल बात है वह यह है कि ब्राह्मणवाद न तो वर्ण से जुड़ा है और न जाति से। यह तो एक नजरिए या दृष्टिकोण का नाम है, भले ही ब्राह्मणवाद के संस्थापक या पुरोधा ब्राह्मण रहे हों, परन्तु जो भी ऐसा दर्शन मानता है, अपनाता है या उस पर चलता है वह ब्राह्मणवादी है। एक शूद्र 'सवर्णवादी' हो सकता है, जब वह ब्राह्मणवाद के दृष्टिकोण को अपनाता है और एक ब्राह्मण 'अवर्णवादी' हो सकता है, जब वह ऐसा दृष्टिकोण नहीं रखता है। उस ऐतिहासिक ब्राह्मणवाद का जीवन दर्शन क्या था ? अगर दर्शन की भाषा में कहें तो वह शाशवतवाद' था और सामाजिक व्यवस्था के रूप में कहें तो वह 'वर्णवाद' था। शाशवतवाद अर्थात अपरिवर्तनता का सिद्धांत, जिसकी सामाजिक परिणिति 'यथास्थितिवाद' में होती हैं और, ये सब परम्परा से हैं– ईश्वरीय परम्परा से। जो जैसा है, वैसा चलता रहें– यही उसका सनातन धर्म है। उसकी ही पुष्टि के लिए वेद, जिसे धर्म कहा गया है, उसके माध्यम से समाज में रूढ़िवाद और अन्ध–वि वासों को प्रोत्साहित किया गया। जब इस वेदवाद को ब्राह्मणवाद कहकर पुकारा जाता है, तो इसमें ई वरवाद, आत्मावाद, पुनर्जन्म,शब्द–प्रमाण, वर्ण और जातिवाद सब कुछ आ जाता हैं।

इस ब्राह्मणवाद का लक्ष्य है– समाज और जीवन के क्षेत्र में नित्यता, स्थिरता तथा गतिहीनता। इन सबका सामाजिक प्रतिफलन एक निश्चित दिशा में होता है– किसी भी प्रकार की परिवर्तनशीलता का विरोध और नवीन दृष्टिकोण को धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यता नहीं देना। ब्राह्मणवादी धर्म–दर्शन या उस विचारधारा के जो भी पक्षधर हैं, चाहे वे आजकल के हिन्दू धर्म के तथाकथित उच्च कुलोत्पन्न ब्राह्मण हैं या निम्न कुलोत्पन्न तथाकथित शूद्र, दलित या अत्यंज, वे ब्राह्मणवादी ही कहलायेगें। विद्रूपताओं के कारण वे कभी–कभार ब्राह्मणवाद का विरोध करके अपने आपको ब्राह्मणवाद के दृष्टिकोण से मुक्त नहीं रख सकते हैं यह एक परम्परा है– भारतीय वैदिक लोगों की परम्परा, वेद मान्यताओं की परम्परा।

बुद्धवादः इस वैदिक परम्परा के साथ–साथ ही

चल रहीं एक और भारतीय परम्परा है, जिसे प्रो. लालमणि जोशी ने और सभी ने 'श्रमणवाद' कहा है। वह भी भारत की परम्परा है और वैदिक परम्परा से प्राचीनतर है, जिसे विद्वानों ने सही रूप में अनुसंधेय नहीं किया हैं। वेदों से पूर्व अर्थात वैदिक समाज से पूर्व भारत में जो व्यवस्था थी उसमें यति और मुनि हुआ करते थे। वे वैदिक–व्यवस्था से बाहर के थे और उनको मानने वाला जो समाज था, वह भी वैदिक समाज से बाह्यवह वर्णवादी नहीं था। मानव–गरिमा को विखंडित करने वाला नहीं था। इस विचारधारा के कई मुनियों और यातियों के नाम वेदों में उल्लेखित हैं। उन्हें 'व्रात्य' कहा गया है।

दर्शन शास्त्र और समाज व्यवस्था के रूप में वह श्रमणवाद और श्रमण–व्यवस्था के रूप से जानी जाती है। जैन और बौद्ध उसके प्रतिनिधि हैं। इसी श्रमणवाद से या इसी श्रमण परम्परा से बौद्ध धर्म अर्थात बुद्धवाद निकला है। यह वेदवाद या ब्राह्मणवाद से नहीं निकला है और न ही उसके विरोध स्वरूप हैं, बल्कि यह अपने आप में इस देश की एक स्वतंत्र परम्परा है, एक विचारधारा है या जीवन–दर्शन हैं।

प्रो.लालमणि जाशी स्पष्ट करते है कि बुद्धवाद भारतीय विचार–चिन्तन का एक ऐसा विशाल दर्शान है, जो काल की दृष्टि से प्राचीनतम और वैचारिक उत्कर्ष की दृष्टि से सारे विश्व में बेजोड़ है। इसकी अपनी एक सुदीर्घ परम्परा है। यह माना जाता है कि बुद्धवाद या बौद्धधर्म सम्यक सम्बुद्ध से प्रारंभ हुआ है, जो शुद्धोदन के घर जन्में थे एवं घर–बार छोंड़कर 'श्रमण' बन गए थे। उनको जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उनके जो उपदेश हुए वही बुद्धवाद है। सम्यक् सम्बुद्ध तथागत के उपदेश ही बुद्धवाद नहीं हैं, वरन 'बुद्धवाद' तो समस्त बुद्धों की देशना है। सम्यक सम्बुद्ध तथागत बुद्ध से पूर्व के बुद्धों का साक्ष्य न केवल बुद्ध साहित्य में उपलब्ध है, अपितु वेदों में भी उपलब्ध है। इन साक्ष्यों के आधार पर प्रो. जोशी स्पष्ट करते हैं कि यह एक परम्परा है और वेदों की 'ब्राह्मणवादी–परम्परा' से 'विशिष्ट' एवं स्वतंत्र परम्परा है। जो वेदों अर्थात 'ब्राह्मणवाद' से प्राचीन है।

इस लेख में स्पष्ट किया गया है कि बुद्धवाद या बौद्धधर्म न तो वेदों से निकला है और न वैदिक–हिंसा अर्थात यज्ञ–याज्ञ या कर्मकाण्ड के विरूद्ध एक सुधारवादी दृष्टिकोण है। यह मानवीय गौरव की स्थापना की एक स्वतंत्र परम्परा है। यह व्यक्ति और समाज, धर्म और नीति तथा जीवन के दृश्य एवं अदृश्य का विवेचन करता है एवं उनके परस्पर संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह मनुष्य जीवन की आन्तरिक एवं वाहय समस्याओं का आधिकारिक विवेचन है। समाज और धर्म के क्षेत्र में फैलाए गए मिथ्या–वि वासों, मिथ्या दृष्टियों और रूढ़ कर्मकाण्डों का विरोध यह सुधारक या विद्रोही स्वरूप में नहीं करता है। बल्कि उसका यह विरोध या प्रतिरोध उसकी अपनी घोषणा और आदर्शो के फलस्वरूप है। जिस मानवीय गौरव या आदर्श को यह साध्य मानता है, उसके विरूद्ध जितने भी मत या वाद हैं, वे स्वतः ही उसके प्रतिपक्ष में आ जाते हैं।

उसका अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन, व्याख्या और विरोध सिद्धांतों की वजह से है। जो भी उन सिद्धांतो के प्रतिपक्ष में है, स्वतः ही वे उसके विरोध में खड़े दीखते हैं और ऐसा प्रतिभाष होता है कि यह पक्ष या प्रतिपक्ष है परन्तु वास्तविकता यह है कि बुद्धवाद की अपनी परम्परा है। जिसके चलते ही प्रतिपक्ष को यह विरोध या सुधारक रवैया लगता है। इसकी जड़ें 'वेदवाद' में नहीं है, बल्कि श्रमणवाद में है। जिसका आयाम विशाल एवं विस्तृत है, जिसका संकेत प्रो. जोशी ने अपनी इस कृति में वेद एवं उपनिषदों को उद्धृत करते हुए किया हैं।

हिन्दूवाद : प्रो. लालमणि जोशी बताते हैं कि जिसे हिन्दूवाद कहा जाता है, वह बौद्ध धर्म के पूर्ण उत्कर्ष के बाद उत्पन्न हुआ है और हिन्दूवाद वैदिकवाद या ब्राह्मणवाद से ही सीधे उत्पन्न नहीं है। हिन्दूवाद ब्राह्मणवाद वैदिक ब्राह्मणवाद न होकर नव ब्राह्मणवाद है, जिसकी ुरूआत प्रो. जो ी ईस्वी सन् 500 से 1000 ईस्वी के अन्तर मानते हैं और हिन्दूवाद में आज तक जो परम्पराएं विकसित हुई है, वे कई घटकों के सम्मिश्रण से उद्भूत हैं। उनके शब्दों में ''जब हम हिन्दू धर्म की निरन्तरता और प्राचीनता की बात करते हैं, तब हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक काल (1500–1000 ई. पू.) से तांत्रिकवादी और हिन्दूवाद (500–1000ई.) तथा आज तक के काल तक ब्राह्मणवादी परंपराएं अनार्यो और लोक संस्कृतियों, बौद्धों और जैन संस्कृतियों तथा दर्जनों गैर भारतीय अथवा विदेशी संस्कृतियों यथा पारसी, यूनानी, शक, पार्थियन, कुषाण, युरेसियाई ईसाइयों, हूणों, अरबों और इस्लामी अनुयायियों के सशक्त प्रभाव और दवाब के अधीन सभी संभाव्य उत्साह और लचीलेपन के साथ विकसित हुई।

वे स्पष्ट करते है कि ईस्वी पूर्व प्रथम सदी के ब्राह्मण धर्म को भी उस समय के दौरान हिन्दू धर्म के रूप में नहीं माना जाता था, तो बुद्ध के समय या बौद्ध के अभ्युदय को हिन्दू धर्म से निकला एवं पंथ या सम्प्रदाय कैसे कहा जा सकता है– पुरातात्विक एवं साहित्यक स्रोतों में अलबरूनी

द्ध1030ई.ऋ से पूर्व इस शब्द की उपस्थिति नहीं है। अलबरूनी ने इस शब्द का उपयोग गैर इस्लामी आस्थाओं वाले भारतीयों के लिए किया, जिससे उसका तात्पर्य था– भारतीय नास्तिक।

दूसरा जो तथ्य है– हिन्दू शब्द को सिन्धु का रूपान्तरण मानना। इस संबंध में भी स्पष्ट किया गया है कि यह शब्द भी पहली बार फारसियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है, जिसका साक्ष्य डैरियस के शिलालेखों से प्राप्त है। प्राचीन फारसियों में 'सा' का उच्चारण 'हा' के रूप में किया जाता था, सिन्धु को हिन्दू कहा जाता था, जिसे यूनानियों ने और विकृत किया और उसे सिथेंस अथवा इंडोस बना दिया और उससे अरबी और फारसी शब्द हिन्दू और हिन्दुस्तान बना और अंग्रेजी शब्द इण्डियन और इंडिया बना। इस प्रकार से स्पष्ट है कि अपने प्रचलन के समय यह शब्द एक भौगोलिक क्षेत्र का द्योतन करने वाला शब्द था, न कि धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने वाला शब्द।

प्रो.जोशी के शब्दों में ''आधुनिक काल में जिसे हिंदू धर्म कहा जाता है, वह वास्तव में ईसाई और इस्लाम को छोड़कर भारत की समस्त धार्मिक परंपराओं का योग है। ईसाई और इस्लाम धर्म ने पारस्परिक संपर्क के बावजूद अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखा। जैन धर्म भी अलग पंथ के रूप में विद्यमान है और ऐसा ही सिक्ख धर्म के साथ भी है। ऐसा हो सकता है कि बुद्ध धम्म भी निकट भविष्य में विशिष्ट आस्था के रूप में पुनः दिखाई देगा।

कुछ लोगों को यह आशा है कि ब्राह्मणवाद से अलग करके हिन्दू धर्म की स्वतंत्र व्याख्या की जा सकती है, किन्तु यह संभव नहीं होगा। क्योंकि हिन्दू धर्म ब्राह्मणवाद की पर्याय बन चुका है। ब्राह्मणवाद के बिना हिन्दू धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती और जातिवाद के बिना ब्राह्मणवाद खड़ा नहीं रह सकता। इस प्रकार ब्राह्मणवाद, जातिवाद तथा हिन्दूवाद ये तीनों एक ही जीवन–पद्धति का आदर्श मानते हैं।

आप देखिए हिन्दू धर्म के निम्न जातीय के लोग जिनमें पढ़े–लिखे लोगों की भी खासी भीड़ है, जब ब्राह्मणी रीति–रिवाज से पूजा–संस्कार करते हैं, अनुष्ठान करते है और हर तरह से उस दृष्टिकोण को पोषित करते है, तो उनके क्रिया कलाप ब्राह्मणवादी क्यों नहीं कहलायेगे ? नए संदर्भो में ब्राह्मणवाद निम्न वर्ग में चमकता–दमकता दिखता है। ज्यादा लिखना विषयान्तर होगा, क्योंकि प्रस्तुत रचना का मुख्य प्रतिपाद्य इनकी व्याख्या करना नहीं है, बल्कि इन तीनों दृष्टिकोण की धार्मिक परम्परा के इतिहास को दर्शाना हैं।

राष्ट्रीय पताका के लिए राजचिन्ह और राजमुद्रा निश्चित करने का प्रश्न उपस्थित होने पर ब्राह्मण संस्कृति से हमें कोई भी ऐसी वस्तु प्राप्त नहीं हो सकी, जिसे कि स्वीकार किया जा सके। बौद्ध संस्कृति ने ही इस समस्या से हमें उबारा और हमने धर्मचक्र को राजचिन्ह के रूप में स्वीकार किया।

मानव प्रगति के लिए भेदभाव रहित प्रगतिशील और परिवर्तनशील धर्म की आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि धर्म के बिना समाज का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

मैं नरक से छूटा

मुझे इस बात को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि हमारे इस धर्म–परिवर्तन की बातें सभी जगह हो रहीं है, लेकिन किसी ने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैंने बुद्ध धर्म क्यों स्वीकार किया है ? आखिरकार मैंने सभी धर्मो को छोड़ कर बौद्ध धर्म को ही क्यों अपनाया ? धर्मान्तर के किसी प्रकार के आन्दोलन में यह एक महत्वपूर्ण प्र न है। धर्मान्तर करते समय इस बात का विचार करना चाहिए कि किस धर्म को और क्योंकर अपनाया जाये ? मैने हिन्दू धर्म का त्याग करने का आन्दोलन 1935 में शुरू किया था और बराबर इस आन्दोलन को चला रहा था। केवल (नासिक जिला) में इस आन्दोलन को चलाने के लिये अप्रैल 1935 में बड़ा जलसा किया था उसमें एक प्रस्ताव द्वारा हमने निर्णय किया था कि हम इस हिन्दु धर्म को छोडेंगे। मैने उसी समय यह प्रतिज्ञा की थी कि यद्यपि मैंने आज से 21 वर्ष पूर्व की थी और उसे आज पूरा कर दिखाया। इस धर्मान्तर से मैं बड़ा ही खुश हुआ हूँ। मुझे कोई अन्धभक्त नहीं चाहिए। जो लोग बौद्ध धर्म में आना चाहते हैं उन्हें खूब सोच–समझ कर आना चाहिए ताकि वे आगे इस धर्म में सुद्ढ रह सकें।

ब्राह्मणवादियों ने भारत में बौद्ध धर्म को षडयंत्ररचकर परास्त किया ?

बौद्ध धम्म का शिक्षाएं व सिद्धांत ब्राह्मणवाद के सिद्धांत से विपरीत थी। मगर भगवान बुद्ध ने और उनके पश्चात् बौद्ध धम्म के अवगामी नेताओं ने ब्राह्मणी मत का खुलकर विरोध किया, क्योंकि वे सम्भवतः जानते थे कि ब्राह्मणवादियों का समाज में काफी जोर है। यही कारण है कि वे प्रायः ब्राह्मणों के साथ पक्षपात की नीति नहीं बरतते थे।, ताकि वे कहीं असन्तुष्ट होकर भड़क न उठें। ब्राह्मणों को पूर्ववत दान दक्षिणा दी जाती थी और विद्वानों का मान भी होता था। मगर चुंकि बौद्ध धर्म की शिक्षा व उसके सिद्धान्त विश्व प्रेम व अहिंसा का आधार लिये रहते थे, इस कारण जनता

बौद्ध–धम्म की ओर आकृष्ट हो रही थी, और ब्राह्मणवाद का परित्याग किया जा रहा था। फलतः पशु हिंसा व यज्ञ यागों की प्रथा बंद हो रही थी, और उसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों की मान प्रतिष्ठा में भी कमी होती गई। उनकी आय के साधन कम हो जाने से उनकी आर्थिक हानि भी होने लगी।

जन्मगत जातिवाद में भी जनता का विश्वास कम हो रहा था, और गुण कर्मो के आधार पर अच्छे बुरे की तमीज होने लगी थी। इस कारण भी ब्राह्मणों का आदर कम हो गया। यद्यपि भगवान बुद्ध ने तथा बौद्ध राजाओं ने जात–पात के भेदों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाये और न ही दंड विधानों की प्रक्रिया को लागू किया, मगर धम्मानुसार मानव–मानव में कोई भेद नहीं था, और ऊँच–नीच व अच्छे बुरे की पहचान जन्म पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण–कर्म से आंकी जाती थी, इसलिए जनता बौद्ध धम्म की ओर झुकती गई, और ब्राह्मणी धर्म से घृणा करने लगी। उपर्युक्त लिखी गई तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणवाद और हिन्दूवाद नरकवाद है और बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में नरकवाद घोर बाधक है।

संदर्भ ग्रंथ :–

1. ब्राह्मणवाद बौद्ध धम्म और हिन्दूवाद – पृष्ट 20, 21,
2. वही पृष्ट –22, 23,
3. वही पृष्ट– 24, 25 प्रकाशन : सम्यक प्रकाशन, लेखक–लालमणि जोशी मुद्रक –गौतम प्रिन्टर्स, नई दिल्ली।
4. बौद्ध धर्म ही मानव धर्म– पृष्ठ 30, प्रकाशन सम्यक प्रका ान लेखक डॉ0 धर्मरक्षित
5. लोकल गर्वमेट ऐषैट इंडिया–पृष्ठ 162–राधा कुमुद मुकर्जी।

मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं।।

–जब कोई व्यक्ति प्रदुष्ट यानी मैले चित्त से शरीर या वाणी का कर्म करता है तब दु:ख उसके पीछे ही लग जाता है जैसे कि गाड़ी में जुते हुए बैल के पीछे उस गाड़ी का चक्का लग जाता है। इसी प्रकार–

मनसा चे पसेन्नन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी।।

–जब कोई व्यक्ति निर्मल, प्रसन्न चित्त से शारीरिक या वाचिक कर्म करता है तब उसके पीछे सुख ऐसे ही लग जाता है जैसे कि कभी साथ न छोड़ने वाली छाया। स्पष्ट है कि मैले चित्त से जो भी शारीरिक या वाचिक कर्म करेंगे, वह दुष्कर्म ही होगा और दुष्कर्म का फल सदा दु:खद ही होगा। इसी प्रकार निर्मल चित्त से जो भी शारीरीक या वाचिक कर्म करेंगे, वह सत्कर्म ही होगा और सत्कर्म का फल सदा सुखद ही होगा।

धम्मपद

Contribution of Mahasthavir Kripasaran to the Revival of Buddhism in Bengal

Dr. Subhra Barua Pavagadhi, Associate Professor, Deparment of Buddhist Studies, Delhi University

Mahasthavir Kripasaran was born to Shri Anandmohan Barua and Smt. Aradhana Barua on 22nd June 1865 in a small village called Uninenpura, Chittagong, now in Bangladesh in devout traditional Bengali Buddhist family. In 1875 he lost his father at the age of 10. The burden of sustenance of the family came on to his shoulders who managed the household by doing manual labour. By temperament this young boy was very calm, obedient and well mannered which attracted the attention of Sudhachander Mahathera of Uninenpura. He was initiated as Samanera at age of 16 under the guidance of Mahathera on 14th April 1881 .Under the tutelage of Sudhachander Mahathera he rigorously and attentively studied Buddhist scriptures with diligence. His simplicity and hard work made him popular among his fellow mates.

In the year 1885 at the age of 21 he received his higher Ordination from Mahathera Acharya Purnachar Mahathera. He was christened as Chandrajyoti though he was named Kripasaran by his parents. His preceptor was Acharya Purnachar who completed his education in Myanmar and Sri Lanka and thereafter settled down at Uninepura Lankaram Vihar . Acharya a Purnachar Mahathera was the first Bengali Buddhist reformer of Chittagong who strived hard for the revival of Theravada Buddhism in Bangladesh. Soon after his higher Ordination, along with Acharya Purnachar Mahathera, Mahasthavir Kriparasan came to India to pay homage to the Buddha at Buddhagaya Mahavihar and other sacred places connected with the life of the Blessed One. At Buddhagaya he witnessed with sadness the lost glory of Mahabodhi Temple and the statue of the Buddha in the form of Saiva deity converted by the local priest. Side by side he also witnessed the lost glory of Buddhism in its own land. He was greatly moved and made a wish to work for the revival and spread of Buddhism. With that promise to be fulfilled to himself, he came to Kolkata in 1885. He stayed in a room called Mahanagar Vihar at Malongal Lane which was demolished later.

There he started contacting local Bengali Buddhist and with his devout zeal to do something for Bengali Buddhist community he worked effortlessly in establishing the Baudhha Dharmankur Sabha (Bengal Buddhist Association) in the year 1892 in Kolkata. In 1900 after purchasing five Katas of the land in Calcutta he established Bauddha Dharmankur Vihara. From here he started his mission of spreading theoriginal teachings of Buddhism and serving his fellow men. Impressed by his strong will, effort and devotion to Saddharma, Acharya Purnachar conferred him the title of Mahathera in 1902 in Chakma Kingdom in Sakyamuni Vihar when he was only 37 years old. The credit of discovering the exact location of Jetavan Vihar in Uttar Pradesh goes to Kripasarn Mahathera .

Though Kripasaran Mahasthavir had no formal schooling but he was a keen learner. With the long term visualization for the benefit of Bengali Buddhists,Ven ripasaran was the force behind for theestablishment of many high educational ministries with affiliation to Calcutta University where Pali language and literature were to be taught. Pali is the language in which the Tipitaka or the sacred canon of Theravada

Buddhism is preserved. Among the institutes which were Pali language and literature were to be taught. Pali is the language in which the Tipitaka or the sacred canon of Thervada Buddhism is preserved. Among the institutes which were established by him special mention may be made of Mahamuni Anglo Pali Institution, Karthala –Belkhanie M.E. school ,Silak Dowling school, Noapara H.E.school , Andharmanik Primary School, Pancharia M.E. school , Dhakakhali High School ,Naikhaine Purnachar Pali School, Satbaria Girls school (presently they are under Chittagong board). His association with great Personalities like Sir Ashutosh Mukherjee, the then vice chancellor of Calctta University who had a great liking of Mahathera's aura of simplicity and dedication to upliftment of his fellow men made his dream of opening these educational institutes come true. Along with Sir Ashutosh Mukherjee, Sir Harcourt Butler, the Education Secretary and Sir Carlyle he did his best to introduce higher studies of pali in Indian universities specially Calcutta University and also made recommend-ations to the Government of India for sanctioning scholarships for higher studies in pali London universities. Dr. Benimadhab Barua was sent by Mahasthavir Kripasaran to London University in 1914 for research and study in Pali. It is said Dr. Barua was the first Asian to obtain D.Litt. from London University in 1917.

He had a longstanding association with other great personalities like Satish Chandra Vidya Bhushan, Justice Sarada Charan Mehta, Maharaja Manendra Chandra Nandy of Kashimbazar, Maharaja Bijay chand Mahatab of Burdwan, Nawab Bagura Abdus Sobhan Chowdhury, Lord Ronalsay, Lord Carmicael, scholars like Harinath De, Narendranath Sen. Abinindranath Tagore and others.

Another significant step taken by him towards promotion of Buddhist Studies and Research was the establish-ment of Gunalankar Libray in 1903. Even today it has a collection of rare books and manuscripts. He also started the publication of Jagatjyoti the Buddhist periodical in 1908 to carry forward the teachings of the Buddha to reach the masses for their benefit and also to make people aware of the activities of the Bauddha Dharmankur Vihar Sabha. Ven Gunalankar Mahast-havir and Ven Sumana Punnananda were given responsibility and the task to bring out this journal for people. This journal is still continuing under editorship of Shri Hemendu Bikash Chowdhury. In 1910 he founded Young men Buddhist Association and the Buddhist Women's Association in 1916 with the objective of women empowerment by giving secular, moral and religious education to them. He also established a night school for workers and people who could not pursue education in day time because of other preoccupation.

Kripasaran Mahathera also organized a world Buddhist Conference from 6-14 December in 1924 at Nalanda Park, Kolkata. Representatives from Chittagong, India, Sri Lanka and Myanmar participated in the conference. Discussions centered on the various discourses taught by the Blessed One. During the session of the Conference, relic of Buddha was installed amidst chanting of various scripts at Dharma-nkur Vihar was attended bymany respected monks who paid their reverence under the president ship of Manendra Chandra Nandy . Mahathavir Kripasaram also attended the coronation ceremony of Prince of Wales along with the Gunalankar in 1911 on the invitation of Government of India.

In spite of his busy schedule at the Buddha Dharmankur Sabha he was the force behind establishment of branches in many other states at Shimla , Lucknow ,Ranchi, Jamshedpur, Darjee-ling ,Shillong , Assam ,Chittagong and Rangamati in Bangladesh for the benefit of local people to acquaint them with the teachings of the blessed one . It was the vision of the great

Kripasaran Mahathera that he was able to make the dot presence of making Buddhism popular among the common masses in the map of India. He renovated many Viharas at Unipura, Rangamati, Noapara and many more now in present Bangladesh.

Not only making his presence felt in the then India he visited many neighboring countries like Sri Lanka and Myanmar where he established good rapport among his counterparts like Ven Angarika Dhammapalaof Sri Lanka ,Ven U. sagan Mahathera and Venerable Tejaram of Arakan . He visited Mandalay, Kalyani Chaitya, Anuradhapur, Kandy, etc. to gather knowledge of various practices Buddhism revered by the local people. Wherever Kripasaran Mahathera went he was always welcomed with open heart. He was truly a Karmayogi in real sense as he was the main figure responsible to bring together the Buddhists living scattered in West Bengal and other adjoining areas. He was the saint who led a renaissance of Buddhist thought in the land of its origin.

In conclusion I pay my respectful salutation to the Karmayogi Kripasaran Mahasthavir. He breathed his last 30th April 1926 after a prolonged illness at the age of 61 leaving behind a rich Buddhist heritage.

References:

1. *Kripasaran Mahathera by Hemendu B. Chowdhury, KripasaranMahathera125th birth Anniversary Vol. Ed.Hemendu B. Chowd-hury, Jagatjoyoti, Calcutta, 1990, pp 1-10.*
2. *Legacy of Kripasaran in the Renaissance of Buddhist culture, Dr. Rajendra Ram, 150th Birth Anniversary of Karmayogi Kripasaran Mahasthavir, Bauddha Dharmankur Sabha, 1024, Calcutta.*
3. *Karmayogi Kripasaran Mahasthavir, Dr. Pabhat Chandra Barua, Bauddha Dhar-mankur Sabha, 1024, Calcutta.*

कोशलनरेश के राजपुरोहित का पुत्र जयंत। उच्च जाति के गर्व-घमंड में, धन-संपदा के अहंकार अभिमान में, रूप-योवन के मदमत्त नशे में वह इस प्रकार अंधा हुआ कि न अपने माता-पिता को नमन करे, न गुरूजनों को, न शीलवान श्रमण-ब्राह्मणों को। अहंकार का पुतला अभिमान के दर्प में प्रमत्त हो उठा। लेकिन अपने किसी पुण्य कर्म के कारण भगवान के संपर्क में आया, यानी शुद्ध धर्म के संपर्क में आया तो होश जागा। भगवान की अमृतवाणी सुन कर साधना में प्रवृत्त हुआ। जब अरहंत अवस्था को जा पहुँचा तब कहता है: '' अब मेरा अभिमान, अवमान क्षीणा हुआ, पूर्ण विनष्ट हुआ। अहंभाव विगलित हुआ, जड़ से उखड़ गया।'' और कहता है:

'' मैं सही रूप में भगवान के दर्शन किये यानी उनके गुणों के दर्शन किये कि वह विशिष्ट नायक हैं, विनायक हैं। प्राणियों में अग्र हैं, सारथियों में उत्तम सारथी हैं, याने विगड़ैल घोड़ों जैसे गलत रास्ते पड़े उद्धत लोगो को सही रास्ते ले जाने में कुशल हैं। भिक्षु-संघ द्वारा पूजित प्रकाशमान सूर्य जैसे हैं।''

सिरसा अभिवादेसिं सब्बसत्तानमुत्तमं

-सब प्राणियों में श्रेष्ठ उन भगवान बुद्ध को मैंने सिर से नमस्कार किया। यों सिर झुका कर नमस्कार करने के पूर्व अंतर्तप करते हुए, जो सही वंदना की, उसी से अहं-विमुक्त हुआ, उसी से अरहंत हुआ।

-जागे अंतर्बोध

सत्यनाराण गोयन्का

Analysing Dosa and Mettā for the Peaceful World

Ashin Nyana Dipa, Ph.D Scohlar, Department of Buddhist Studies, University of Delhi.

Dosa in Pā i language can be simply defined as being angry, being quarrelsome, being aggressive, etc. It exists within the mind of everyone in the world. Some people think his is dosa only when the anger becomes.

In fact, for the dosa, not only it is the anger, but also there are so many different characteristics. They are: the fury, the disappointment, the sulkiness, the unhappiness, the muddle, the premonition, the harbor a grievance, the feeling weary with anxiety, the resentment, the irritability, the short temperament, the worry, the depression, the discontentment, the dissatisfaction, the grief, the feeling disheartened, the grudge, the sadness, the bewailing, the jealousy, the stinginess, the miser, etc.... All these psychological manners or mental feelings appear basing on anger called dosa even though there are using the different varieties of words.

When we are angry, we become changing the physical action and verbal action to be violent and harsh because the anger is influent in our mind. Due to the violent anger, our face becomes red and our heart-beating are faster than normal condition. Being the face red is because the rate of blood circulation is higher than normal and the blood is flowing quickly in the body blood-vessels and on the face as well. The blood-vessels of brain can be cut and we can be even death immediately by hypertension or heart-attack or some shocks. Besides human beings, even some devas can be passed away their lives by the dosa. Some people can be happened in even suicide cases themselves.

As a consequence of dosa, it destroys ourselves at first, and moreover, others in surrounding. Like it occurs suffering for us, other people get feeling sufferings. For example, in a family, when father is angry with something, all the family members feel unhappy. Likewise, when mother is angry, the rest of family members will be troubled in mind. Whoever the dosa is happened, anyone in the family will be depressingly. Therefore, dosa creates the suffering of mind not only for us but also for all the people like infection of serious diseases.

By the Abhidhamma of the Buddha, there are four mental factors in dosa group: these are (1) dosa – anger, (2) issā – jealousy, (3) macchariya – stinginess, and (4) kukkucca – remorse.

The nature of dosa is the condition of sternness; the nature of issā is the condition of jealousy on others' success; the nature of micchariya is the condition of stinginess to share others; the nature of kukkucca is the condition of repentance which becomes grief due to the bad action we did or due to the good action we did not. All these are included in the manner of dosa.

The dosa begets physical, verbal and mental behavior harsh. As soon as we are angry with something, this anger can defile mentally for us firstly. Then, it makes destroy for otherslater. When the dosa in our mind is very strong, we will try to hurt others bodily, and also even murder cases can be committed. When we are quite angry, we will be in verbal action to others. Harsh speech will be spoken by our mouth. When we are just anger, our dosa will be just in the mind. But, the dosa will not be appeared out of the mind, bodily and verbally.

While the meditator who is practicing samatha or vipassanā dhamma is getting experience body painfulness, being impatience

this painfulness is said to be dosa. When the one, who gets serious painful disease, is not able to stand with this painfulness, his moaning due to painfulness is dosa. Crying due to painfulness or weeping due to sorrow is dosa as well.

If we have no positive view or no optimism, the dosa will be stronger. Therefore, a pessimist will not be purified their mind. He sees everything badly, and is usually angry because of his attitude. The pessimist is more anger than others. The pessimists always find others' fault and censure for it. As an optimist, he is seldom for anger.

Fighting each other in the human society and the wars in the world are not made by human beings. The perpetrator of wars, quarrel, fighting, battle, etc. is dosa in the mind of human beings. The dosa which becomes wars in the world was killing an uncountable amount of human beings through the world's history on the earth. The dosa created the wars. The creator of the wars is not others, but only dosa. In the contemporary world, fighting each other, man by man, race by race, country by country using newest weapons is due to dosa.

The meaning of issā is jealousy. Why is the issā – jealousy in the dosa group? The basic principle of dosa and issā is same because dosa destroys others' things, and also issā dislikes others' success or higher status or richness, etc. And again, the issā begrudges someone's good fortune. The dislike means that issā wants such things to destroy. Therefore, the dosa and the issā are in the same group.

The issā becomes jealous deliberately others' prosperity and flourishing in business or whatever. When we see something better than us, the issā in our mind dislikes, i.e. someone buys luxury house and expensive car; he/she gets great promotion; he/she is more handsome or more beautiful. The gossip talking has to be due to issā. During the gossip, the mouth is talking with grimaces, making a wry face. Sometimes, the manner of his face and body is with a wry smile and a pouting lip. The insinuated talking is often spoken about others' bad news, but not about good news.

The issā gives birth the bad mind which is jealous of someone's better life or better situation. When hearing that others' good news, the issā does not want to hear that; does not want to see that; does not want to look at that. The normal people have this envied spirit that if someone is better than us, jealousy becomes automatically. Although someone's success becomes better and better by hardworking of himself, it appears envy of this condition for the person who has the mind of issā.

The next one including dosa group is macchariya – stinginess. It can be said in such definition in English as stinginess, miserliness, uncharitably, niggardliness, selfishness. The macchariya in our mind does not want others to be rich as I am rich; does not want others to be beautiful as I am beautiful; does not want others to get higher designation as I get this designation; does not want other to be educated one as I am educated. All these things mean that it does not want others to be the same level or the same status, and moreover, does not want them to be higher or better than I am.

Grudging sharing our own to others is the characteristic of macchariya. In spite of being rich, it is stingy with our properties. To forsake and hand over our designation to others, it is difficult. The macchariya does not want to give and share for everything. The promotion, the properties, the luxury, the authority, these are wanted only for myself; it does not like to be for others.

Although the issā and macchariya seem to be the same, they are quite different from each other. The issā is jealous deliberately others' success, others' prosperity and flourishing in

business. The macchariya does not want to share everything together with others and for others. In brief, the issā does not want others to be the good in everything and the macchariya wants only us to be the good. Whatever the issā or the macchariya, both of them are leading to destroy for all, and give the result of disadvantages than advantages. The competition in politic or business or sport or education is very good work. We should try the best with others in competition. But, the mind which should not be absolutely is that being jealous.

The last one in the dosa group is kukkucca. The meaning of kukkucca is the remorse or regret in English. The remorse is grieving about the badness which had done and the goodness which had not been done. People think back that they had done the misdeeds and they had not done the good deed. After thinking, they were getting the remorse. Sometimes, they were weeping for that. The thoughts of kukkucca are getting upsetting in the mind. We do not have to be stay peacefully in the life.

The kukkucca begets mental suffering. It is like burning the mind itself in the fire. Actually, we should not be regretting for the thing that we did. With the wisdom of dhamma, we should have only for the good lesson for the thing we did. In spite of felling unwell thoughts or in spite of moaning and groaning about such bad thing in the past, we should reform our habit and our character for the good future. If we can realize and rectify our error at present, we will be escapes from
the remorse. And also, by having the wisdom, we will be successful in the present and future.

Why do issā, macchariya, and kukkucca include in the dosa group? It is because all these ones can destroy for us as well as for others. We should realize about the dosa deeply. Then, we can practice to clean it in our mind. In Pā i literature, the opposite word of dosa is adosa called mettā which is loving-kindness. The mettā has no feeling hate, no enemy, no revenge, no spite, no enmity, no hostility, no quarrel, no resentment, no instigation, no retaliation, no adversary, and so on. The mettā is very peaceful in the mind and it has nothing to fight each other. It helps others to have merit and wishes to have amity and friendliness.

Due to the power of mettā, all the families can be with solidarity and with unity. The families, the societies and the communities with influence of mettā are able to stay together without conflicting. If everyone has mettā in the mind, no one will fight each other and no war will be seen in the world. The dosa becomes war, the mettā comes to appear an end of the war. And then, no more jealousy, stinginess, remorse will be in the world, the more peacefulness will be anywhere.

All of us are mortal. We are sure we must die one day, sooner or later. In this very short life, why are we keeping the dosa which is very bad in our mind? Before we die, we need to realize what we have done for human beings or for the world. The mettā in our mind sees what we can help the human beings and what we can save the world. To destroy the world is dosa and to save the world is mettā. The dosa is easy to kill any living beings and is easy to hurt anyone. Attacking and killing each other in the world is because of dosa. It gets into trouble and does not give the peacefulness for the world.

The mettā – loving-kindness keeps with the peacefulness for the mind of human beings. It has compassion, sympathy, pity, conside-ration, forgiveness, etc. Mutual understanding each other is mettā. Even if husband and wife have mutual understanding, they will never be speaking words of anger and blame. They will have to be gone through their enrapture life by mettā. If each human being in the world has the mettā, it is impossible to be fighting and also

even World-War. The mettā calm the anger down. It ceases the fire of anger. It has no jealousy and sees for the others what I can help.

If we are full of mettā, we will have no cruelty to others, and no pitilessness, no ruthlessness, no ill-treatment, no torture, no persecution. Actually, the power of mettā even saves others' lives to escape from any suffering. The mettā has no discrimination on grounds of age, sex, race, rich and poor, high and lower dignity, etc. The mettā sees what we will have to help and give to others, but not what we will have to take and get form others. Expectation to get from others is not mettā. Only helping with out expectation is real mettā.

The mettā is very valuable for us. When mettā in our mind appears, we will get experience peacefulness because it does not like to come anger and jealousy into the mind. Nowadays, the world is threatened by anger in the human's mind. To destroy, to hurt, to kill are happening somewhere in the world. Those people in these places have to live without safety. By the nuclear weapons and updated arms, the world is frightened. The earth where mettā is dry out is burning in the fire. The world which is full of anger is being faced with wars. There is getting worried conditions for the future world.

To have peaceful world for now and for future, without dosa, we will have to practice mutual understanding each other, mutual relationship, mutual loving-kindness, mutual compassion and so forth. Human life-span is too short. Before we depart from this world, we must give the good message for the human beings and for new generation. Like we live under the same blue sky, we should live together under the roof of same mettā. Create the world into beautiful peacefulness by our infinity mettā.

'' यथाचारी यथासतो सत्तीमा, यतसङ्कप्पज्झायि अप्पमत्तो।

अज्झत्तरतो समाहितत्तो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं।।

''जो शीलवान हैं, शान्त है, स्मृतिमान है, शुद्ध विचारवाला है,

अप्रमादी है, अध्यात्म चिन्तन में रत है, समाहितात्म है, अकेला और संतुष्ट है, वह भिक्षु कहलाता है।''

भगवान बुद्ध के दो प्रधान शिष्य 'सारिपुत्त' और ' मोग्गल्लान' थे। इनकी कथा एक साथ आयी है। 'सारिपुत्त' का जन्म उपतिस्स गाँव के ब्राह्मण कुल में हुआ था। और 'मोग्गल्लान' का जन्म कोलित गाँव के ब्राह्मण कुल में हुआ था। बचपन से ही दोनो मित्र थे। एक दिन दोनों मित्र राजगृह मे उत्सव देखने गए। वहाँ दोनों को विरक्ति उत्पन्न हुई। वे दोनों संजय नामक परिब्राजक के शिष्य बन गए। लेकिन संजय की शिक्षा से उन्हें संतोष नहीं हुआ। इसलिए उससे विदा लेकर वे सत्य की खोज में निकलें। एक दिन भिक्षु अस्सजी से, जो कि भगवान के पाँच शिष्यों में से एक थे, भगवान का उपदेश सुनकर प्रसन्न हुए। तब वे भगवान के पास जा कर प्रब्रजित हुए। प्रब्रज्या से एक सप्ताह बाद 'मोग्गल्लान' अर्हत् पद को प्राप्त हुए। प्रब्रज्या से दो सप्ताह बाद दिघनख नामक 'सारिपुत्त' भगवान द्वारा दिए गए उपदेश सुनकर सारिपुत्त स्वंय परम पद को प्राप्त हुए। वे भगवान के शिष्यों में प्रज्ञा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हुए। इसलिए वे धर्म सेनापत्ति भी कहलाते थे।

सारिपुत्तत्थेरगाथा-

Existence of Buddhism in Kalimpong

Lhundup Tsomo Bhutia, Ph.D. Research Scholar, Buddhist Department, D.U.

To many readers and who are not familiar with the existence of the small town of kalimpong along with its vast sub division, it can be briefly explained that this area once under the Maharaja of Sikkim annexed by the Royal Bhutan Government and then passed on to the British India after the Anglo-Bhutan war, to be planned as a town under Lt. John Anderson Graham a Scottish missionary, who in the year 1889 was given due authority by the British to supervise the development work of kalimpong.

It was then the name Kalenpung, which according to the Lepchas (who are recognised as the original inhabitants by the government) relate the term “kaa” refers to we in Lepcha language, “Len” meaning gather, “Pung” meaning ridge. The term was then made as the ridge where we gather viz. Kaalenpung, this was anglicised to the present term kalimpong by the British. Here by then a monastery today locally known as Thongsa Gumpa (Monastery) built by the Bhutanese monarchy had already been established, it is said this is the oldest monastery to have been built in this area. The British had allocated a plot of land to the influential Royal Family (Dorji Family) of Bhutan, where they established The Bhutan House, which became an administrative and cultural centre which is till date present in its original place.

Dr. Graham who was by now given supervision powers by the British to oversee the planning of the town, he had by now ordered to relocate a Buddhist Lepcha monastery on top of a hill which today is occupied by the Indian Army and is converted into a golf course, (a part of the stupa can still be found at the golf course) to Kaffer near present day Guest House. Later a renowned Lepcha clan's man gifted a plot of land and re located it at present day Bong Busty (present site). This monastery, has some unique features, the monks of this monastery are all from the same family i.e. their line of succession are from a single family till today, the monks of this monastery are said to have the powers to prevent or stop hail stones from showering in this region. A lot of Buddhism is similar to the Nyingma lineage of Tibetian Buddhism it can be relevant as to the authority and influence of Sikkimese in the area prior to the Bhutanese. The existence of the Sikkimese and Bhutanese Royal Family in Kalimpong could definitely have had an influence in the religion of this area specially to the native population who were all Bon-thing Lepcha's (nature worshipers). The Buddhism that was later introduced to the Lepcha's has a lot of Sikkimese and Bhutanese influence and also some Tibetan influence in their present religion as both Sikkimese and Bhutanese have similarities with Tibetan Buddhism.

The presence of Christian missionaries in kalimpong which has been already mentioned above did also impact the religion of the people of Kalimpong. Missionaries such as, Rev. Macfarlane, who is credited with the introduction of first school in Kalimpong (Scottish University Missionary Institute) SUMI in who's memory the famous Macfarlane church still stands, Dr. J. A. Graham who is the founder of Dr. Grahams Homes (in 1900) a century old school for destitute Anglo Indians. Their presence too influenced the religion of the population of Kalimpong; as such we as of today Kalimpong has a number of Christians, even among the native as well as migrants who have later made Kalimpong their home. A number of churches have come up and are in the process of building more in times to come, the number of local

population too are inclined towards taking up new religion and incorporating them in the old. A number of natives (Lepcha's) have been converted and introduced to Christianity, many Hindu's too have taken up Christianity where as very few Tibetan's are incorporating the religion in them.

The introduction of Buddhism in Kalimpong was prevalent from the time this area was subjugated under the royal crown of Sikkim and Bhutan, as mentioned earlier the oldest monastery (Thongsa Gumpa) still stands though rebuilt after the Ghorkhas destroyed it. In 1964 this monastery was rebuilt under patronage from the royal treasury of Bhutan this monastery belongs to Nyingmapa lineage of Tibetan Buddhism, and its deities are worshipped by the local Buddhist population as well as the outsiders. The Monastery is open for all to visit and cham (sacred form of dance) is performed during special occasions. Every Sunday a lot of Buddhist population visit the monastery and perform rituals from as early as 6:00 A. M.

The famous silk route which was the main trading route from India to Tibet, and vice-a-versa paved the way for Tibetan Buddhism to be brought into Kalimpong. The merchants who took this route which was said to be the most feasible route as it was open throughout the year and very convenient for horses to travel brought along with trade, religion to the local population. The intermingling of traders with local people and bonding into families brought to life the religion of traders which was Tibetan Buddhism with local practices. As a result many turned towards Buddhism which is relevant with the coming up of new monasteries such as Zangdogpalri Monastery in Durpin, which has housed a lot of old Tibetan Texts and scriptures brought from Tibet, and also some of the old idols which were carried from Tibet. This monastery was consecrated by H. H. The Fourteenth Dalai Lama, this monastery is an ideal example of intermingling of local population with Tibetan Buddhism since it is said that a lot of local people helped as labourers in building this Monastery.

The existence of Gaden Tharpa Choeling Monastery in line with Gelugpa lineage of Tibetan Buddhism, which till date gives sermons and teaching in Buddhism related topics and is attended by local people, young and old every Sunday does fulfil its founder Late Dromo Geshe Rinpoce's dream who himself a learned monk from Tibet came to Kalimpong and established the present Monastery for the people of this region. This monastery as of today boasts of a new museum which to some extent helps to curtail the ever diminishing culture of Tibetan Buddhism by show causing some heritage and monuments of the past related to the monastery and Buddhism.

Some other monasteries that have come up today are the Sakya Monastery which deals with the teachings of Sakya form of Tibetan Buddhism, the Diwakar Bduddhist Academy, Tamang Gumpa, etc all are in some way trying to install Buddhism in the people of Kalimpong and far off places. This region was also a hub for pilgrims who came from Tibet to travel to Nalanda, Gaya etc to visit the sacred place of great Sakyamuni Buddha. It is from here that Tibetan Buddhism found its foot hold in the Himalayas, as such the Buddhist of this region are proud to have their ancestors and their religion flourish to other areas from here.

The intermingling of local population with the Tibetan Buddhists and the migrants from Tibet who have settled here are in some way responsible in the spread of Buddhism. Prior to 1959 the escape of the 14th Dalai Lama from Tibet not many Migrants had arrived here, but after 1959 when H. H. The 14th Dalai Lama arrived in India he brought along with him a number of refugees who were given asylum here in India to which the Tibetan community till date

remain ever grateful. This arrival of refugees further increased the number of Buddhists in this region and to some extent influenced the spread of Tibetan Buddhism.

The arrival of Migrants from Nepal on the other hand did not help to spread Buddhism as most of the Nepalese's migrants were Hindu's. They had been brought by the British to work as labourers and they continue to migrate into India till date in search of better life style and avenues. As a result the intermingling of Tibetan's and Nepalese's was evident, and such their culture and life style was incorporated by both sides. Whereas the Lepchas who are the original inhabitants became a minority and the Nepalese's slowly became a majority. This intermingling of population gave in some way a boost to Buddhism and also to some extent drove away people from Buddhism into other religion. The Sino-Indian wars of 1962 created an atmosphere of fear and suspicion as a result many refugees were deported to far off places in India into camps and they were given lands to settle. This situation also had its impact on the spread of Buddhism, as most monasteries had stopped functioning due to the war and its consequences were that Buddhism had taken a toll as the main foundation for spread of Buddhism was through these monasteries; they were the ones that preached and taught the way of life of a Buddhist to follow.

Many Buddhist have come of age here in Kalimpong, but as one would like to argue not all have been Buddhist since ages, many have taken up this religion as an inspiration in some form or the other and some compelled by birth or to gain some mileage in life. But the real concept of Buddhism to be followed and practiced is history and rarely do we find true Buddhist in Kalimpong. It is not necessarily that all Buddhist have to be Tibetan, some are Lepcha's , some Tamang's, some Gurungs, some Sherpa 's etc. But the very essence of Buddhism to be incorporated by them all seems to be lost in time. A classic example will be narrated in lines to follow which will to some extent throw some light at present situation of Buddhism as it exists in Kalimpong.

Uden a native of Kham Province of Tibet, a Tibetan by heart and a devoted mother of four children recalls how she at a tender age of fifteen had been married off to a local business family who were better off, so that the weight of rearing other member of her family could be lessened. It is seems her intentions were originally to study and be someone in her life, studying is one art she has not yet forgotten as her room is filled with books which make up for most of the artefacts. Turning eighty-five and having seen the world she remembers her early days when she had to nurture her children and obey her husband and mother in-law, who burdened her with a lot of duties. Being a Tibetan and having been married into another religion and raising a family at a tender age it seemed an uphill task, for any ordinary person let alone this lady.

She had to give up on her studies to look after her family, she had to work at home and in the office, fulfil her in laws wishes and look after the wellbeing of her husband. She had to even learn a new religion, and she does perform her religious activities (new and old) even till date. But considers herself with her new found religion more attached than the one she was born into. Remembering her religion, prayers as well as her customs she tries to reconcile with the present situation she is in a widow and still facing an uphill in present times.

As a Buddhist born in these parts, one should consider him or herself very fortunate as the freedom to practice their religion is a free choice. Mrs. Uden too, being a Buddhist has this freedom to practice the religion she was born into. But she herself prefers to intermingle the rituals and follow her new found religion she was

introduced into by her in laws rather than stick to her old religious beliefs. Buddhism as a practice she has not forgotten but she has accepted her new rituals as well and seems more comfortable incorporating the new rituals along with the old practices. It would be very evident if one could enter her prayer hall and picture the entire episode of daily rituals that take place and the various other deities present in the hall and all given due importance and respect.

Many like her face with similar situations, which eventually turn out the same way, peoples who inter bond end up accepting both the religion, i.e. the one that he or she was born into, the other that he or she is introduced into such is the case of Buddhism in Kalimpong. But when we refer to the term Buddhism, we do not generally narrow it into a single religious section of people, here we have taken a sheer instance of a lady from Tibet, who has settled in these parts and encountered such circumstances. When we say Buddhism we mean it in a broader picture which includes many other sections of society who have embraced Buddhism not only Tibetans, but all others those who are related to Buddhism directly or indirectly.

Again one can also sense here that the dominant person in a family does to some extent decide the religion to be followed or accepted in one's family. For example if the head of a family is a Buddhist he or she does not allow other religious beliefs to be incorporated into the family or vice versa. The practice of Buddhism in Kalimpong can be found evidently during the special occasion of Buddha's birth anniversary "Buddha Jyanti" which is show caused in big numbers by different sections of the society, where the monasteries play an important role. In Kalimpong Buddha Jyanti is celebrated every year, this is when the entire Buddhist who belong to different sections such as the Bhutia's, Sherpa's, Tamang's etc. Celebrate this auspicious day by ushering in the people of their own society, by parading the monks and public around the town premises carrying Holy Scriptures for all to see and take blessing from them. The procession takes place in the morning in which the monks come in their attire some dressed for their religious rituals and others carrying drums and trumpet. Some would be carrying the Holy Scriptures on their heads and at a distance one can view the statue of the Buddha which is seen carrying on a pavilion by the monks, as everyone comes forward to take blessings of the Buddha. Here for once we can view the strength of the Buddhist in the town, in villages too the same traditions and customs are followed though it is mainly concentrated to the monasteries where all the rituals take place and people can come and take the blessing from their teacher the great Sakyamani Buddha on the auspicious day. On other days most visit the monastery if there are some functions, death in the family or birth of a young one, or for performing prayers for their wellbeing. Most monasteries have stopped performing cham (religious tantric form of dance) due to lack of infrastructure or trained manpower. But they do perform prayer rituals, which benefits all sentient beings. This lack of cultural up liftment today has to some extent reduced the age old practices in monasteries as well as in individuals, since common people (Buddhists) look up to theses monasteries for preaching and teachings and also for spiritual well being for all.

Now when we talk about Monasteries in Kalimpong and their importance as explained above, they are the main source of knowledge for any Buddhist community existing in Kalimpong. Whether there is any rituals to be performed, for eliminating obstacles, for forwarding on a journey, death in a family, welcoming a new born into this world, naming a child, performing any and all religious activity a Buddhist will always consult the monastery. Even the future can be predicted to some extent by the monks as it is

believed by the Buddhists in the family, as a result we can find a strong bonding with the monastic values that are passed on to the common man to follow and to take forward for others to consider. But it is up to the younger generation as they are very flexible towards old practices and rituals to take up the existing religious practices. Here it can be noticed that neither theses monasteries nor individual pressurise the young to follow their teachings or rituals the younger generation are to decide for themselves the type of religion nor rituals they want to follow and practice. This is one reason why Buddhism in these parts is not thriving as such.

Another reason for Buddhism not being able to reach out to the masses is the migration of population to other areas for search of better avenues, and living standards. Here one should mention the huge migration that has taken place in regards to Tibetan population. The number of Tibetans that were residing here in Kalimpong has drastically fallen as a result Buddhism as a religion has taken a setback, most of the younger generation have migrated to the United States of America, Canada, and Europe in search of better living standards and occupation. The remaining Tibetans are either very old and cannot migrate, or very young to make a stand in the field of religion and the remaining few are in the process of migrating. If given a chance the remaining population of the Buddhists are also in the phase of migrating to better lands, though the majority of the Buddhist population does want to stay behind they are forced to migrate as the avenues to earn and live a decent life is deteriorating in this region.

Though one may argue that number of Buddhist structures that are coming up in Kalimpong, may turn the tide in favour of Buddhism, it still remains a distant dream for Buddhism to flourish in and around this region as the ratio between the Buddhist and its followers are on the decline. Even if the structures might prove otherwise the Buddhists who live and preach in them are not rising nor are they expanding or promoting the true spirit of Buddhism which seems to be the need of the hour.

References:

- *O'Malley, L S S., Bengal District Gazetteers Darjeeling, New Delhi, Logos Press, 1985.*
- *Dash, Arther Jules., Bengal District Gazetteer Darjeeling, West Bengal, N. L.Publishers, 2011.*
- *Foning, A.R., Lepcha my Vanishing Tribe, New Delhi, Sterling Publisher, 1987.*
- *Tamsang, K.P., The Unknown and Untold Reality About the Lepchas, Kalimpong, Mani Press, 1983.*
- *Bhutia, Lhundup Tsomo., Journal from Bodhi Path, New Delhi, ISSN 2347-8004, Buddha Education Foundation, January 2016, p. 70.*
- *Bell, Charles., Tibet Past and Present, New Delhi, Motilal BanarsiDass Publishers Private Limited, 1992.*
- *Goldstein, Melvyn C., A history of Modern Tibet 1913-1951, New Delhi, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd, 1993.*
- *Shakabpa, Tsepon W.D., Tibet A Political History, New Delhi, Paljor Publications Pvt. Ltd., 2010*

सब्बापापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं।।

सारे पाप कर्मों को न करना, कुशल कर्मों का संपादन करना,

अपने मन को परिशुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

धम्मपद

Vasubandhu's Viewpoint on Pure Land

HUYNH VAN ANH VO
Ph.D candidate in Department of Buddhist Studies, University of Delhi

Recent scholars have gradually departed far from the contention of two Vasubandhu because the great Yogācārin was a talent of multiple sciences. Beside mind-only, he did also perfectly penetrated philosophy of previous thinkers including Vaibhasika, Sautrāntika, Mādhyamika. However, few of modern Buddhists are astonished to know his devoted practice and vow to rebirth in Sukhāvatī of Amitābha Buddha. Together with his pred ecessors, Nāgārjuna and Asaṅga, Vasu-bandhu advocated the Pure Land as one of core teaching in Mahāyāna Buddhism since the outset. His two senior forerunners just generally approached ideal of Pure Land by inserting points in their specific texts of Madhyamaka and Yogācāra, respectively.[1] Vasubandhu reached further to contribute a separate commentary on the most significant Sūtra in this tradition. Therefore, it is absolutely appreciate to honor him as the first patriarch on whose text Chinese masters, such as Tán-luán (476-542) and Shàn-dào, set the foundation for Pure Land school in China, then Japan.

Vasubandhu Treatise of Rebirth

Although being praised as the author of thousand treatises cover diversity of Buddhist thought, there is only single text he talked completely about Sukhāvatī and Amitābha, Treatise of rebirth. There neither Sanskrit original nor Tibetan version could be found. Its extant translation stored in Chinese Tripiṭaka vol.26, No.1524 by Bodhirūci (1 fascinate) entitled "Wú-liàng-shòu Jīng Yōu-bō-tí-shè yuán-shēng-jì"[2] with reconstructed Sanskrit title "Sukhāvatīvyūhopadeśa". Song-xiao's Lé-bāng wén-lèi 樂邦文類asserted that the Treatise is commentary of the Larger Sukhāvatīvyūha Sūtra but include central the Smaller Sukhāvatīvyūha and Amitāyurdhyāna also.

The textual structure consists of two parts, i.e. 1) verse and 2) prose. He first composed ninety-six lines to praise Amitābha and the Sukhāvatī realm then concretely explained profound thought in prose. Its content embraces five basic contents: 1) Preface (8 lines): Paying homage to Amitābha and authentic source for his treatise, 4 lines for each; 2) Salient features of Sukhāvatī: 30 lines; 3) Power of Amitābha and Bodhisattva: 52 lines; 4) Vow to rebirth: 4 lines; 5) Transferring merits to all sentient beings: the last 2 lines. Throughout, Amitābha's virtue and his paradise have been depicted beautifully. Vasubandhu also suggested particular techniques to be reborn in Sukhāvatī. In process of Mokṣa, five gates of meditation in this text are not unified to Yogācāric five Sthāna of Āśrya-pāravṛtti but pave other way for liberation. Obviously, this treatise proves many destinations for rebirth after ending Saṁsāra, at least two for Yogācārin reincarnation, viz. Tuṣita and Sukhāvatī. It, therefore, is reasonable for Gyōnen to place Pure Land intertwined within Yogācāra meanwhile Blum viewed Vasubandhu a patriarch of Pure Land. [3]

Sahā, Sukhāvatī and Rebirth

In Buddhist cosmology, there are not only one solar system built on Sumeru mountain center but realms of Buddha in ten directions else, basically of two types āsrava and anāsrāva.[4]

1. **Sahā-āsrava:** In Abhidharmakośa, Vasu-bandhu describes the Jambudvīpa in south of mountain Sumeru is also named Sahā (Earth), just a part of the vast universe comprising multitude planets, according to

Mahāyāna cosmology.[5] Five species commonly exist in this is planet, viz. Human (Manuṣya), Aśūra, beast (Tiryagyoni), ghost (Preta) and hell (Naraka). None of them gain peacefulness throughout the life because of Vipākakarma resulted from Avidya and Kleśa. The more sorrowful do they feel, the more defiled qualities being caused to fulfill this "polluted world". The earth has no good quality to live due to five evil defilements, i.e. kalpa, dṛṣti, kleśa, sattva, jīvita. There were six enlightened-one before Śākyamuni and Maitreya will the future one in the Sahā.[6] Thus, Tathāgatas in three times present in Sahā to preach Dharma even this is imperfect place to reside. Besides, sentient beings here are always blessed by Buddhas in ten directions. The idea of multiple Buddha paradises, according to K. K. Tanaka, emerged by Lokottara of Mahasaṅghika since the 2nd century B.C.[7] Of them, Amitābha kingdom is the farmost but much known among people in the earth.

2. **Sukhāvatī-anāsrāva:** In Smaller Sūtra, Buddhas in six areas at the same time extol Amitābha. Their realms qualify the name Sukhāvatī, for instance, Akṣobhya's Abhirati, Bhaiṣajyaguru's Vaiḍūryanidāsa, Gandha-Sungandhā, etc. each of them accomplishes particular excellent merits. Amongst Pure Lands, the western state reigned by Amitābha is the best with 17 ornament merits. According to Kuān-Jīng, when Vaidehi, the queen of Magādha, was displayed all Lands of Bliss, she immediately vow to reincarnate in Amitābha's state. Sukhāvatī could be comprehended general as: a. Pure Land, rendered from Chinese "Jìng-dù" established by "Jìng yè" (flawless karmas) consisting of three manner.[8] The purity here is of two things, comprising environmental base and sentient beings, entirely have eliminated defilements; b. Land of Bliss, the exact English translation of Sukhāvatī, also known as Jí-lè "Extreme Happiness". By merits of Buddha and pure karmas, all living beings enjoy uninterrupted pleasure. Dharma wheel is always turned to spread holy teachings, so there existent no evil paths, even name and sound.

Smaller Sūtra calculates a distant position of 10.000 Billions paradises of Buddhas far from Sahā as Amitābha state.[9] Ten thousand billions is uncountable number that Tanaka comprehended generally "billions".[10] In fact the distance is not merely in of spatio-temporal meaning but opposite to this impure and suffering Sahā in spiritual sense also. Vasubandhu combined "mind-only" and "pure land" initiated idea that pure mind is peaceful world. Psychologically, distance between Sukhāvatī and Sahā means each of three times, there is existence of contemporary 1000 Buddhas with Śākya-muni. Amitābha has attained the supreme enlightenment 10 Kalpas ago. If individual conducts from 1 to 10 evil actions then he goes far from the Land of Bliss around 100.000 Buddhas paradises. Concretely, 10 directions 10 evil karmas 1000 Buddhas = 100.000 worlds. The "Western" means right side or divine qualities being opposite to the Eastern which stands for left side or unwholesome. By profitable deeds, one will be closer to Sukhāvatī and vice versa. Feelings in Tridhātu consist of physical and mental limit, even though be happy in some conditions but not absolute liberation. Sukhāvatī is, in contrast, constructed of totally pure virtue.

3. **Rebirth:** One of the most vastly recognized doctrine in Mahāyāna is "rebirth" a state connecting the lives in three times (past, present and future) through function of Alayavijñāna. That means karmic store from one life continues to be deposited in the next.

New born is resulted from what had been done, a paradigm of spiritual power rather than physical. Accumulation of Karmic seeds determinates the sphere as well as species for the body to be come. Merits bring us to pleasant place meanwhile demerits negatively impact. For ascending to Sukh-āvatī, one needs to bear sufficient meritorious qualification. Firstly, according to Shinran, one who preserves deep faith immediately reborn because "Faith brings with it joy, gratitude and confidence … may make us realize that birth-and-death is none other than nirvana".[11] Shàn-dào considered first of three minds in Kuàn-jīng is genuine faith toward three objects, viz. the existence of Sukhāvatī, Amitābha and capacity of rebirth by which practitioner accomplishes "Crossing transcendence" because, as Shinran interp-reted, by faith one stops birth and death.[12] Secondly, just as Dharmakara Bodhisattva raised his 48 primordial vows to Dīpankara Buddha to establish Sukhāvatī, those who desire to be reborn there have to do the same. More powerful vow creates more fortification of merit conduction. The third requirement is fast holding (Sṃṛti) Amitābha name in three ways, viz. recitation, keeping in mind and cultivating merit.

Paradise of merits

1. **The Lord:** Religious ruler of western fairyland is Buddha who qualifies two indefinite qualities, viz. light and life-length. His wisdom illuminates the world as sunshine in unlimited life-time to salve uncountable living beings by compassion religion. These two powers effect forcefully to establish meritorious environment for sentient beings and insentient ornament. Amitābha who constitutes the extremely bliss is the leader of all Buddha, attained eight perfections as Vasubandhu commented [13]

2. **Living beings:** Treatise of Rebirth notes that there is no female, handicap, Śrāvaka and Pratyekabuddha.[14] So, after reborn, all correspond to Acalabhūmi Bodhisattvas who have never been retrogressive in religious achievements. Taking Samādhi as daily nutriment to free from body and mental distress, they satisfy desirable objects as soon as thinking about for example food, clothes and other living conditions. Bodhisattva achieves four meritorious powers, i.e. manifest in other planets even sway in his native, ray the light to ten routes within a kśāṇa, illuminating all assembly and offers Buddha, educate beings in the place where has no Dharma. Vasubandhu repeated Shorter Sūtra description that after finishing mid-day meal, Bodhisattvas, gods and goddesses, etc. offer heaven flowers Buddhas around ten directions. A lot of precious birds sing Dharma voice to ornament supreme peace. Therefore Tán-luán was correct to consider their all activities Mahāyāna merit.[15]

3. **Realm:** Vasubandhu summarized Larger Sūtra's picture of Amitābha kingdom that is luxuriously ornamented with seven Ratna. Infrastructure of storey buildings, alleys, trees, lakes, lotuses, sand and so forth are of gold, silver, lapis lazuli, crystal. High buildings serve not only for residents enjoy themselves but also from which they can observe other worlds. Luxury handrail connects buildings together make a system of beautiful infrastructure. For this, Shorter Sūtra describes seven lines of tree, seven layers of net and seven rounds of handrail "brilliant with four gems, gold, silver, beryl and crystal".[16] Vasubandhu counted like that seventeen excellent characteristics of Amitābha paradise.[17] Above three elements qualify the definition of "pure land"[18] comprising the perfection of sentient and non-sentient beings or "extreme happiness".

However, to rebirth is merely a stage of temporary Nirvāṇa, Bodhisattva attempts more for fulfillment of merits. Vasubandhu therefore introduced solution for ultimate emancipation consisting of "going" and "returning".

Ways of salvation

Discussing about salvation, Vasubandhu combines self-liberation and saving the other through five gates, traditionally called four entering and one transferring. "Five gates" is the major doctrine that the author started and closed the treatise. Individual who desires to rebirth firstly purifies three karmic organs, viz. bodily, words, willing. Then next step leads him to tranquil state by defending words unsinful, saluting Buddha image for body control, reciting Amitābha name and in hold in mind the vow to follow. Thirdly, for concentration, he advised three objects, viz. Amitābha form, his realms and assembly of present Bodhisattva. The fourth stage is to investigate Buddha's eight signs, Bodhisattva four achievements and Sukhāvatī seventeen excellences. Last but not least, to transfer merit, one needs to think about sentient beings in Jambudvīpa that they all must be salved to through power of Amitābha and his assistants. Unquestionably, these five steps pave the pure way to reach pure land. Treatise called them five gates (wǔ-mèn五 門) by five works (action, verbal, willing, wisdom and skill in mean). Shàn-dào interpreted these five direct two ways in order practitioners to serve self-benefit (Svārtha) and for the other (Parārtha). Four channels lead entering into, the rest opened to get out. The former prepares for "being salved", the latter is for salving. Vasubandhu's techniques contain merely two principles of meditation as Tanaka recognized "he identifies the aspiration for rebirth with concentration (Śamatha) and visualization with insight (Vipaśyanā)"[19]

Conclusion

Buddhists choose Sukhāvatī as a place to end sorrowfulness. Vasubandhu repeat Buddha's sermon on Pure Land confirming this earth of unhappiness should be rebuilt by merit accumulated from wholesome activities. He, an enlightened one, knows how to distinguish such Bliss Land from this Sahā that is place of dangerousness, distress, uncomfortableness on account of actual karma. Humankind has to be responsible for global transformation from Dukkha to Sukha. Vasubandhu shortly depicted all merits of Amitābha land, the way to reach there and salving those who are sunk in this worldly ocean. Following that, one ceases the painfulness of birth, age-old, disease and death. After reincarnation in Sukhāvatī, he is waiting for the time of one life benefit sentient being to complete merit store for final emancipation.

REFERENCE

1. *Sukhāvatīvyūha Sūtra was composed as early as the beginning of Prajñapāramitā literature since the 1 century B.C. Nāgārjuna composed Mahaprajñapāramita Śāstra. Asaṅga three works containing ideal of Pure Land are Daśabhu-mikav-ibhāṣā, Yogācārabhūmi, Mahāyānasa-ṃgraha*

2. *The Larger Sukhāvatīvyūha Sūtra which extant in Sanskrit translated into Chinese by Saṅghavarma completed 529 C.E. and English by F. Max Müller. Completed 529 C.E*

3. *Blum, Mark L. 2002. The Origins and Development of Pure Land Buddhism: A Study and Translations of Gyōnen's Jōdo Hōmon Genrushō, Oxford University Press, New York, 23-24*

4. *Four sides (eats, west, south and north), four corners (southeast, southwest, northeast, northwest), zither and nadir*

5. *Buddhist cosmology depicts Sumeru as the centre of Kamadhātu, around with four continents, viz. Pūrvavideha (east), Aparagodānīya (west) Jambudvīpa (south) and Uttarakuru (north).*

Together with sun, moon and planets in the same system make one of three thousand great thousand worlds

6. *Vipassī, Sikhī, Vessabhū, Kakusandha, Koṇāgamana, Kassapa*
7. *K. K. Tanaka. 1990 The Dawn of Chinese Pure Land Buddhist Doctrine: Ching-Ying's Hui-Yüan Commentary on Visualization Sūtra. SUNY, Albany, p.5*
8. *Speaking, thinking and action*
9. *Guò shí-wàn-yì fó dù* 過 十 萬 億 佛 土.
10. *ibid, p.7*
11. *Hee-sung keel. 1995 Understanding Shinran: A Dialogical Approach. Asian Humanities Press, p.138*
12. *ibid, p.126*
13. *Pedestal, body, mouth, mind, pure assembly, unsurpassed, fulfilled primordial vow help Bodhisattva attain*
14. *.Julian F. Pas. 1995. Visions of Sukhāvatī: Shan Tao's commentary on Kuan-Wu-Liang-Shou-Fo-Ching, State University of New York Press, Albany, p.299*
15. *ibid, 297*
16. *ibid, p.159*
17. *Purity, unlimited space, good root of nature, form, excessive of gem, impure light illuminating, pleasant in touch, three elements in ornament, flower raining, shined by Buddha wisdom light, sweet sound, Amitābha, Buddha relatives, receiving, free from all adversities, large embrace of Mahāyāna, satisfied all wishes.*
18. *ibid, p.xiii*
19. *K. K. Tanaka. 1990 The Dawn of Chinese Pure Land Buddhist Doctrine: Ching-Ying's Hui-Yüan Commentary on Visualization Sūtra. SUNY, Albany, p.12*

एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में-

आयस्मा सारिपुत्तो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा।

यानी आयुष्मान सारिपुत्त भगवान के समीप पांव मोड़कर पालथी मारे बैठे थे और काया को सीधी रख कर आंतरिक सच्चाइयों के प्रति अभिमुख होकर जागरूकता में स्थित थे।

यह देखक कर भागवान के मुँह से उदान के यह बोल निकल पड़े:

यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।

एवं मोहक्खया भिक्खू, पब्बतो व न वेधती।।

- जैसे कोई शैल-पवर्त अचल होकर सुप्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मोह का संपूर्ण क्षय कर देने वाला निर्वाणदर्शी साधक पर्वत-सदृश अचल अडोल हो जात है। निर्वाणिक अवस्था में चंचलता कहां?

अधिचेतसो अप्पमज्जतो, मुनिनो मोनपथेसु सिक्खतो।

सोका न भवन्ति तादिनो, उपसन्तस्स सदा सतीमतो।।

- अधिचित यानी चित्त की ऊंची अवस्थाओं में अप्रमत रहने वाला, मुनियों के मौन-पथ की यात्रा पूरी कर लेने में सुशिक्षित, शांत-चित, सदा स्मृतिमान याने जागरूक साधक को दूख नहीं छू पाता।

स्मृति और संप्रज्ञान के सतत अभ्यास द्वारा जो मार्ग के अंतिम छोर निर्वाण तक पहुँच गया है, उसे भला शोक कैसा?

उदान

Tsongkhapa: A Great Buddhist Reformer of Tibet

Dr. Dev Raj, Department of Buddhist Studies, University of Delhi

Tsongkhapa (1357-1419) was famous teacher of Tibetan Buddhism. He had promoted the study of logic. He encouraged formal debates as part of Dharma studies as well as instructed disciples in the Guhyasamaja, Kalacakra, and HevajraTantra.

Tsongkhapa is a Tibetan name usually taken to mean “the man from onion valley.” Tsongkhapa was born in Tsongkha (Tsong kha), Amdo (northeastern region) in 1357. His father's name was Lubum-ge, and his mother Shiṅ-ssaḥ-a-chhoAfter TsongKhapa's birth, Chojey Dondru brinchen (ཆོ་རྗེ་དོན་གྲུབ་བཟང་པོ) sent his main disciple to the parents with a gift, a statue and a letter. A sandalwood tree grew from the spot where his umbilical cord fell to the ground. It is said to have borne a houndred thousand leaves, on every one of which was visible the naturally grown picture of Tathagata Senge-na-vo (Simhabhvani). A large monastery containing 10,000 monks was established near it and was thus called Kumbum Chambalin (སྐུ་འབུམ). It is said that leaves of the selfsame sandal tree are even at the present day observed by pilgrims to bear the Buddha's body images inscribed by nature. The Gelugའི་ལུགས monastery called Kumbum(སྐུ་འབུམ) was later built on that spot.

Tsongkhapa was an extraordinary child, he learn many thing in early age. At the age of three, he took lay vows from the Forth Karmapa (Rolpay Dorje རོལ་པའི་རྡོ་རྗེ) (1340-1383), who gave him the name Kun-gah-ninpo .At the age of seven his father invited ChojeyDondrub-rinchen (ཆོ་རྗེ་དོན་གྲུབ་བཟང་པོ) to their home for teaching. During that time, Chojey Dondrubrinchen (ཆོ་རྗེ་དོན་གྲུབ་བཟང་པོ) gave the boy the empowerment of Five-Deity Chkrasamvara (རྡོ་ལྗེ་མཁའ་འགྲོ་ལྔ), hevajra, Yamantaka and Vajrapani. Tsongkhapa had already memorized their complete rituals orally. He had completed the Chakrasamvara retreat, was already doing the self-initiation, and already had a vision of Vajrapani. He frequently dreamt of Atisa (982 1054; ཇོ་བོ་རྗེ་དཔལ་ལྡན་ཨ་ཏི་ཤ), hich was a sign that he would clear understanding of the religion in Tibet and restore its purity, and Atisa has combined the sutra and tantra together. Having attained his eight year, he received the second sacrament of novices from sage Tondub Rinchhen who change his name to Lo-ssan-tagpa or Sumatikirti in Sanskrit.

In Central Tibet, TsongKhapa first studied at Drigung Kagyu monastery, where he learned the DrigungMahamudra tradition which is called “possessive five” (ཕྱག་རྒྱ་ལྔ་ལྡན), medicine, and further details about bodhicitta (བྱང་ཆུབ་མཐའ་མས). At the age of seventeen, he was a skilled doctor. He then studied Filigree of Realizations (མངོན་རྟོགས་རྒྱན Skt .Abhisamayalamkara), the other texts of Maitrya, and Prajnaparamita (ཤེར་ཕྱིན, far-reaching discriminating awa reness) at several Nyingma, Kagyu, Kadam and Sakya monasteries. He had memorized all the text in few days. He also received the teaching from Kadam lam rim (ལམ་རིམ, graded sutra path) teachings and also innumerable tantric empowerments and teachings, including the Sakya tradition of Lamdray (ལམ་འབྲས, the path and result), the DrigungKaggyu tradition of the six teaching of Naropa (ན་རོ

འོཆོས་དྲུག, six yoga of Naropa), and Kalachara.

Tsongkhapa always had strong renunciation. He achieved Shamatha easily (ཞི་གནས, a stilled and settled state of mind) and vipashyana (ལྷག་མཐོང, an exceptionally perceptive state of mind), but he never satisfied with his learning or level of realization. He continued to travel and requested teachings over and again even on the same texts. He debated and given exams with most of the learned masters of his days. Rendawa(རེ་དཔལདབ་བཟང་ཀུན་ལྡན་པ་ཞོན་ནུ་ སངཔ)(1349-1412), one of the main master of a Sakya tradition, Tsongkhapa wrote the Migtsema (དམིགས་རྩལ་ཅན་ཞེས་པ) praised him, but this master rededicated it to Tsongkhapa. Later, became the verse repeated for Tsongkhapa guru-yoga.

Teaching and Works of Tsongkhapa

At the age of twenty, he took the monastic vows from Tshul-thimRinchhen, when he manifested a very powerful memory. He was able to recite at a time about 553 slokas of the Dulwa(འདུལ་བ) without any mistake. He was afterwards initiated into the vows of Bodhisattva and others of the strictest kind appertaining to the Tantras. He also propitiated the divine mother Dolma(སྒྲོལ་མ) in Tibet. In the whole of Kanchan or the Himavat country, he was unrivalled amongst the leaned. Vajrapani, Pehar Gyalpo, Vaisramana and Tam-chhenSinjese and other guardians of the world became his friends and helped him without interruptedly and purity among the clergy.

At the age of 20 , he started teaching based on Abhi dharma and Tsongkhapa become monk at the age of 21.

After finishing his studies he devoted himself to writing various commentaries and works, such as aphorisms, Lam-rim, Tantras, Vinaya, Paramitas and Logis. At the time of his commenting on the Tantric work called Sambaramula-tantra, the god Sambara is said to have miraculously appeared before him and remarked-"Tsong-Khapa even in India such never made".

Tsongkhapa has written the main treatises and commentaries on Madhyamaka. It is based on the tradition from descended from Nagarjuna as elucidated by Buddhapalita and Candrakirti. He is also known by his ordained name LosangDrakpa or commonly known as "Je Rinpoche".

Tsongkhapa (1357-1419) was the founder of the Gelugpa sect of Tibetan Buddhism. This sect became the dominant religion in Tibet.Tsongkhapa was well known and infl-uential teacher in Tibet.His collected writings were found in one Tibetan blockprint edition consistof eighteen volumes.

Tsongkhapa's collected works in Tibetan block print edition in twenty volumeswhich is includedinto 210 works. It varied from short version to long version. These were revised and catalogued in Kanjur and Tanjur (The Tibetan Tripitaka).[1] The most important work of Tsongkhapa is the Lam rim chenmo-(ལམ་རིམ་ཆེན་མོ). The English version of the same book and translated as The Great Treatise on the Stages of the Path to Enlightenment, is available inthree volumes.[2] He has also written another short version of Lam rim or gradual path. Perhaps, the most popular and shortest version is the "Lam gyigtsobor namgsum (ལམ་གྱི་ཚོ་བོར་བཅུ་གསུམ་གསལ་བ)" or the "Three Principal Elementsof the Path"of which eight translations are listed as follows: HisLam rim works, which systematically and comprehensively layout the graded path to enlightenment, are Tsongkhapa's major contribution to world religious thought; and it is these that earnhim a place among the greatest spiritual teachers of all time.

Tsongkhapa's life changed dramatically around the age offorty, when he achieved his highest enlightenment experience.

Most of his works were written after that, including his Lam rimworks. It is regarded by Gelugpa tradition as his “mature” works. His some early works written prior to that are nonethelessregarded as very valuable, showing remarkable scholarship insorting out and synthesizing their subject matter from the massof Indian texts translated in the Tibetan Buddhist canon. Justafter his highest enlightenment experience, he expressedhisnew realization in a hymn or song of praise to the Buddha forteaching dependent origination, the profound teaching of thetwelvefold chain of causation. It is called in short, “In Praise of Dependent Origination,” and seven translations of it are listedbelow. Only very rarely do we have access to the realizations of such an experience recorded immediately after they occurred, and directly by the person who achieved them, the only other such work I know of being Shankaracarya's Daksinamurti-stotra.Tsongkhapa wrote what may be considered a companionvolume to his Lam rim chenmo, namely, the sNgags rim chenmo, (སྔགས་རིམ་ཆེན་མོ་) or“Great Exposition of Tantra.” In this work he systematically andcomprehensively laid out the stages of the path following

theesoteric teachings of the tantras. The path of tantra requiresinitiation, and is not for everyone, but many in Tibet followed it.He devoted about half of his writings to tantra. Of his twelvelongest works (those over 100 folios), six are on tantra. Besidesthe (སྔགས་རིམ་ཆེན་མོ་), these include three commentaries on the Guhyasamaja system, and two on the Cakrasaμvara system. Heleft the Kalacakra system to be commented on by his disciple ཁས་གྲུབ་རྗེ་ who did so extensively. Tsongkhapa's major non-tantric works included hisearly works, the Legs bshadgserphreng, ལེགས་བཤད་གསེར་ཕྲེང་ or “Golden Garland of Eloquence,” which is an extensive commentary on Maitreya's Abhisamayalaμkara, “Ornament for the Clear Realizations,” andthus is also on the Prajnaparamita, or “Perfection of Wisdom”teachings. Then among his Lam rim(ལམ་རིམ་)works is, in addition to theLam rim chenmo (ལམ་རིམ་ཆེན་མོ་), the Lam rim chungba (ལམ་རིམ་ཆུང་བ་), “Condensed Exposition of the Stages of the Path to Enlightenment,” written late in his life.

Among the other three are, firstly, the Legsbshadsnyingpo (ལེགས་བཤད་སྙིང་པོ་), “Essence of Eloquence,” in which he sorted out and determined the teachings which are definitive and which are only provisional.

The remaining two major non-tantric workstheRigs pa'irgyamtsho (རིགས་པའི་རྒྱ་མཚོ་), “Ocean of Reasoning,” on Nagarjuna's Mula madhyamaka-karika, “Root Treatise on the Middle Way,”and the dGongs pa rabgsal(དགོངས་པ་རབ་གསལ་), “Elucidation of the Intention,” on Candrakirti's Madhya-makavatara, “Introduction to the MiddleWay.”

The works composed by TsongKhapa are replete with sense and profound reasoning. Excellence of style, perspicuity and conciseness are their never-failing attributes. Few authors can boast of such excellences as embellish his extraordinary writings. They are scrupulously free errors and blunders of any kind. His works are faultless in the qualities called anga, pratyanga and mula, in consequence of which they easy and intelligible to the general reader. In Grammar and Dialectics his reputation stands unrivalled in High Asia. In modern perspective, we saw every one behaved as he pleased under the shelter of its corrupt doctrines, and practisd diabolical acts in the name of the Tantras. There were few among the Tibetan clergy who

abstained from woman and wine. It was TsongKhapa who preached strict observation of the law of the Vinaya(འདུལ་བ) and by thus conforming to the precepts of Buddha, he revived the purest kind of Buddhism. Tsong Khapa introduced reforms in every direction. In his reform school was to be found the essence of the Sutras, Tantras and Dharanis of the Mahayana and Hinayana.

After SakyaSimha, there is no teacher of Buddhism was as eminent as TsongKhapa. Even in the Aryadesa, no such refined school as that of Gelupa was known to exist. In Tibet, Tsong Khapa is called the second Buddha, a title which Nagarjuna, the founder of the Madhyamika philosophy, enjoyed in ancient India.

Several of TsongKhapa's close disciples founded monasteries to continue his lineages and spread his teachings. While Tsong Khapa was still alive, Jamyang Chojey (འཇམ་དབྱངས་ཆོས་རྗེ་ བཙུན་པ་ཤཱཀྱ་ཡེ་ཤེས་དཔལ་བཟང་)(1379-1449) founded Drepung Monastery (འབྲས་སྤུངས་དགོན་པ) in 1416 and Jamchen Chojey ཇམ་མཆན་ ཆོས་རྗེ་ ཤཱཀྱ་ཡེ་ཤེས་Byams-chenChos-rjeShakya ye shes) (1354-1435) founded Sera Monastery (སེ་རས་དགོན་པ་Se rad Gon pa) in 1419. After Tsong Khapa's passing away, GyuSherab-sengey (རྒྱུ་རྟ་ཤེས་རབ་སེང་རྒྱུ་Sྲr Gyud Shesra bseng-ge) (1383-1445) founded Gyumay Lower Tantric College (རྒྱུད་སྨད་ དྭགྲ་བཙན་ཚང་r Gyud-smadGrva-tshang) in 1433 and Gyalwa Gendun-drub (རྒྱལ་བ་དགེ་ འདུན་གྲུབ་ rGyal-baGe-'dun grub)

End Notes:

1. *Daisetz T. Suzuki (edi.), Tokyo-Kyoto: Tibetan Tripitaka ResearchInstitute, 1955-1961, part III: "Extra, Tibetan Works," vols. 152-161, works numbered 6001-6210.Peking Edition.*
2. *The English version of translation is available by The LamrimChenmo Translation Committee Joshua W. C. Cutler (Editor-in-Chief) & Guy Newland (Editor), Snow Lion Publications Ithaca, New York, 2000.*

References:-

2. *Das S.C."Tibetan Studies" edited with Introduction by AlakaChattopadhyaya Published K P Bagchi& Company Calcutta, 1960.*
3. *TsongKhapa "The Great Treatise on the stage of the path to Enlightenment" Volume I translated by the LamrimChenmo Translation Committee Joshua W.C. Cutler (Editor-in-chief) Guy Newland (Editor) Snow Lion Publication Ithaca, New York, 2000.*

न तं सजलदा वाता न चापि हरिचन्दनं।

नेव हारा न मणयो न चन्दकिरणंकुरा।।

समयन्तीध सत्तानं परिलां सुरक्खिंत।

यं समेतिइदं अरियं सीलं अच्चन्तसीतलं।।

उत्तम शील अत्यन्त शीतल होता है। प्राणियों के जिस ताप को यह शान्त करता है, उसे तर हवा, हरिचन्दन, हरा, मणि और चन्द्रमा की किरणें भी नहीं शान्त कर सकती।

विसुद्धिमग्ग

An Attempt to Fathom the Apocryphal Texts in Chinese Buddhism for the Filial Piety

Dr. Anant, Department of Buddhist Studies, University of Delhi

The Chinese society in the Han dynasty (206 B.C.E. – 220 C.E.) was influenced by the Confucian ideology. The most important foundation of this ideology was based on the family. According to Confucianism, Filial piety is a factor which was mentioned in propagating the Buddhist teachings into the society i.e. filial piety. While "Filial piety" is a set translation for this term in Confucian ideology, at a Buddhist term, and especially in Vinaya discourse, something more like "Obedience" or "Discipline", "Being directly translated with Vinaya". However, many different religions have interpreted the term by different meanings such as in the Brahma's Net, Wonhyo defined "Filial piety" as to practice the precepts on moral behaviour while other called the filial piety as "Loyalty toward one's ruler and devotion to one's parents". The Neo Confucians in China and Korea brought an accusation against Buddhists of neglecting these values.

Buddhism has a strong influence over China and it got integrated with the Chinese life and with Confucianism and Taoism. When Buddhism was introduced to China, it was welcomed by the all classes, some of the Chinese philosophers become the founders of some schools and day by day, it became the famous religion and the essence of cultural thought in Chinese society up to the contemporary period.

In the society such as in China in which filial piety seems to be the first attitude to follow in order to repay to the parents when one is alive, if religions need to exist and develop, all their philosophies and the system of doctrines should be based on filial piety as the main teachings to the masses. For example, the Confucianism teaches filial piety as follows: "Our bodies to every hair and bit of skin are received by us from our parents, and we must not presume to injure or wound them. This is the beginning of filial piety. Establishing our character by the practice of the filial course, so as to made our name famous in future ages, and thereby glorify our parents: this is the end of filial piety. Filial piety commences with the services of parents; it proceeds to the service of the ruler; it is completed by the establishment of the character". [1]

Taoism is also a religion which exalts filial piety. For example, in chapter twenty, Lao tzu writes:

"Frameless am I! Like the ocean; Shapeless am I! As though I have nothing is which I can rest.

The masses have their reasons [for acting]; I alone am stupid and obstinate like a rustic. But my desires alone differ from those of others- For I value drawing sustenance from the Mother [Lit., "Cherish eating the mother"].[2]

Buddhism, a religion which came from India, teaches the way to liberation, freedom and happiness and to attaining Nirvana is this world. In this system of teachings, there were many Sutras which mentioned the filial piety such as Digha Nikaya, Majjhima Nikaya, Samyutta Nikaya and Anuguttara Nikaya, Fan wang ching, Ch'ang a han ching. Apart from these sutras, there were a lot of aprocyphal sutras which were made in order to propagate the Buddhist filial piety. Especially, there were two famous texts and were popular in China such as "The Sutra on the Difficulty of Repaying the Kindness of the Parents" and "The Sutra on the Profound Kindness of Parents".

The Sutra on the Difficulty of Repaying the Kindness of the Parents

This is one of the earliest apocryphal Sutra considered to have composed in China. The author is unknown but in recent studies date it back to the catalogue of Sengyou in 518 C.E.. The Sutra on the Difficulty of Repaying the Kindness of Parents or Fu mu en zhong jing 恩重經 Taisho no. 2887 teaches that Children have central obligation to express recognition of the presence or existence of their debt to their parents, and one important way of showing this is to carry out the Ullambana rites 盂蘭盆on the 15th of the seventh month. This sutra supposed to be copy and to distribute the sutra, to memorize and recite it. In 1900, this sutra was found in among the Dunhuang manuscripts, having been listed as non-extant previous catalogues. A sutra with almost the same content was transmitted to Korea and Vietnam with the title Da bao fumu enzhong jing 大 報 父母恩 重 經.

Though calling an apocryphal sutra an "extract" was often a way of claiming an Indian pedigree for a Chinese creation, in this case the claim could be true in a general sense, because the elements that make up the sutra are very much like those found in Indian Buddhist texts. In fact, the introductory section matches the Purnavadana as found in Divyadana, and the middle section matches a section with the Purnavadana text. It is based on this evidence that we can say that this sutra have been borrowed and rearranged into an artistic method or in a form to a new set for its meaning. Recently, this text is famous and considered as one of the Chinese Buddhist Sutras.

The meaning of compassion of fathers and mothers indicated the four kinds of obligations for kindnesses received as follows:

1. According to the Dasheng ben shengxin di guan jing 大乘 本生 心地 觀 經: the compassion of parents,the compassion of sentient beings, the compassion of rulers, and the compassion of the Three Treasures.
2. According to the Zhengfa nianchu jing 正法 念 處 經: one's mother, one's father, the Tathāgata, and one's dharma teacher.
3. Four benefactors: the Buddha, the head of state, one's parents, and all other people. and;
4. In the Shisshi yaolan 釋氏 要 覽, the ruler, parents, teachers, and patrons.

The purpose of these sutras discuss about filial piety, the whole content of these texts explains the kindness of the parents and the repayment of the son. The kindness of the parents is as high as the mount and as large as the sea, but very few people notion about this aspect and they neglect their duties to serve their parents. Can you imagine how safe you are and how much your mother suffers? during the nine or ten months of the fetes growth in her womb.

Before the time the child is born, the father is engaged in so many activities and worried for his wife and his new coming child while another's body is heavy as if carrying a mountain. When it is the time for giving birth, parents are as happy as if they have received the greatest thing of the world. However, the endeavour suffers if the son lacks filial piety. Because of these sufferings, the purpose of these two sutras is to function as the medicine to cure the lack of filial piety. The Sutra is written in the hope that, in the absence of filial piety, the chance to read or hear the scripture may change the attitude of the person as to the parents' desire.

Based on these main aims, these two sutras were written as an expedient. Their purpose is to remind the people to remember their parent's kindness, virtues and then they must serve them while they are alive. What are the kindnesses, virtues of the parents and why do people must serve to repay?

According to these two sutras, the Buddha and his followers dwelt at Sravasti, in the Jeta Grove, in the garden of Benefactor of Orphans and the Solitary, together with a gathering of great Bhikkhus, twelve hundred fifty in all, and with all of the Bodhisattvas, thirty-eight thousand in all.[3] At the time, Buddha and his great assembly were on their way for begging food towards the south. Seeing the pile of bones besides the road, the Buddha turned his face towards them, then placed his five limbs on the ground and bowed down before them respectfully. The great assembly did not understand the deep meaning of this because this is something that the Buddha had never done before. For the sake of these profound meanings, the Buddha spoke the Sutra about the kindness and virtues of the Parents to the great assembly. First of all, the Buddha said: "This pile of bones could have belonged to my ancestors from former lives. They could have been my parents in many past lives. This is the reason I now bow to them. [4]In order to explain it more clearly, Buddha divided the pile of bones into two groups, among which one belongs to men and one belongs to women. Buddha added: These bones we are looking at can be divided into two groups. The first group is composed of the bones of men, which are heavy and white in color. And the second group is composed of the bones of women which are light and black in color. [5]

What are the differences between the white and black bones and how were they produced? The Buddha explained the main differences between these two are of one's character in daily life as follows:

"If when men are in the world, they enter temples, listen to explanation of Sutra and Vinaya texts, made obeisance to the jewel, and recite the Buddha's name, then when they die, their bones will be heavy and white in color".

This explanation appeared that if men, when they are alive, hear the doctrines and practice them in their life as they will get happiness and liberation. So that when they die their bones will be heavy and white in color. On the one hand, we can say that the heavy and white bones can be known as the method to imply the undisturbed mind and the purity of one's bodies.

In these two sutras, the parents' kindness and virtues are explained in depth and demonstrated about the difficulty to repay especially the mother's kindness.

The motive of to follow the filial piety in Buddhism is aimed at universal salvation, entering the homeless life, Buddhist monks seems to be deficient in the duty to the parents. The great filial piety is to turn the evil into the good seeds and to scat free of the cycle of birth and death. Besides repaying the love of their parents, they can also save all sentient beings to escape from the ocean of sufferings. Therefore, at the beginning, Buddhism had faced many troubles, but in later periods, it was welcomed and became widely accepted in Chinese society. It was succeeded by the Buddhist monks in propagating Buddhist scriptures. The two apocryphal sutras became popular in the Asian countries. The core teachings from these two sutras mentioned the merits of the mother to the son both in the womb and after being born by explaining about how the mother suffers before and after pregnancy etc. as well as how mother forgets all the pains once the child born; eats the bitter herself and saves the sweet for the child; moved the child to a dry place and lie in the wet herself. The parents forget themselves for the benefit of their children by feeding, and educating etc. Therefore, Buddha remarked that the mother's love actually cannot exist without the father's support. That is the reason why the son should think on the indebtedness and obligation to the parents.

There are many ways for the son to repay these merits. They can be summarized into two spheres: physical support and mental support. However, mental support is considered as the highest and the one of the most important factor of the human being. Physical support makes the parents satisfied in only in this life but the mental one can save their parents from the Ocean of suffering and rebirth.

Endnotes

1. *Alan Cole, Mother and Sons in the Chinese Buddhism, p.14.*
2. *Ibid.: 31f.*
3. *Upasika Terri Nicholson, (Trans.). Filial piety sutra, p.7.*
4. *Ibid.:14f.*
5. *Ibid.:16*

References

Bishop, Donald H., (2001). Chinese Thought: An Introduction. Delhi: Motilal Banarsidass.

Ch'en, Kenneth, K.S., (1973). The Chinese Transformation of Buddhism. New Jersey: Princeton University Press.

Cole, Alan. (1998). Mothers and Sons in Chinese Buddhism, California: Stanford University Press.

Teiser, S.F., (1998). The Ghost Festival in Medial China. New Jersey: Princeton University Press.

विशाखा एक उपासिका थी। वह रोज-रोज भिक्षुओं को भिक्षा दिया करती थी। एक दिन उसके साथ रहने वाली उसकी पोती बीमार पड़ी और मर गई। विशाखा के लिए शोक असह्य हो गया। उसकी दाह-क्रिया के अनन्तर वह भगवान् बुद्ध के पास गई और आंखों से आँसू गिराती हुई एक ओर बैठ गई। तथागात ने पूछा-''विशाखे! दु:खी और शोकाकुल, आंखों से आंसू गिरती हुई क्यों बैठी है?''

उसने अपनी पोती की मृत्यु की बात कही और कहा कि,'' वह बड़ी आज्ञाकारिणी थी, और उस जैसी मिल नहीं सकती ह।''

विशाखें! श्रावस्ती में कुल कितनी लड़कियाँ होंगी? भगवान! लोगो का कहना है कि करोड़ो! यदि वे सभी तुम्हारी पोतियाँ हों, तो क्या तुम उनको प्यार नहीं करोगी? भगवान! निश्चय से और प्रति-दिन श्रावस्ती में कितनी लड़कियों की मृत्यु होती है? भगवान! अनेकों की तब तो एक क्षण भी ऐसा न आएगा, जब तुम किसी न किसी के शोक से व्याकुल न होगी।'' भगवान! सत्य है। तब क्या तुम दिन-रात रोती ही रहोगी। भगवान! आप ने ठीक-ठाक समझा दिया। मैं समझ गई'' तो अब फिर और शौक मत करो।

Buddhist Education in Cambodia Today

Khy Sovanratana, (Preah Dhammaghosāchārya); Acting Rector,
Sihanouk Buddhist University, Cambodia

Cambodian people hold the belief that Buddhism was introduced to their land in the third century B.C. by the two elders Sona and Uttara. These two learned monks were sent to Suvannabhumi after the Third Buddhist Council, which was held at Pataliputta, the capital of Magadha, North-East India, patronized by King Asoka, under the leadership of the elder Moggaliputta Tissa.[1] Suva**ṇ-ṇ**abhūmi, "Land of Gold", was one of the nine regions selected to receive Buddhist missions. Cambodians hold the view that Suva**ṇ**abhūmi was a name given to South East Asia, and Cambodia is a part of it. However, according to archaeological finds, the early existence of Buddhism in the country was in the first century AC. The Sanskrit stone inscription dated to the early third century found at Vokanh in South Vietnam records that King Sri Mara [2] of Funan was a follower of the nectar-like teaching of the Buddha and he orders that his successors follow the same.

Since the first century AC., several schools of Buddhism had found their ways into Cambodia. From the scanty sources available, we may not nabe over-opinionated to say that during the Funan period, Sarvastivāda which enjoyed the patronage of King Kaiska of North India was introduced to Funan and it was accepted by the local people. Tāranātha in his History of Buddhism states that the Dharma was introduced into Indo-China by a disciple of Vasubandha at the end of the 5th century C.E. Sammītiya and Mūlasarvastivāda were also in existence in Cambodia. All the three schools belonged to the Hinayāna tradition[3] but used Sanskrit as their medium. During Chenla period, Buddhism met with a very lean period as the kings were followers of Brahmanism, not Buddhism. But Buddhism did not disappear from the land.

During Angkor period, especially in the reign of king Jayavarman VII the Great (1181-1220), Mahāyāna Buddhism was widespread and became flourished in Cambodia. The king himself was an ardent follower of this Buddhist school. He built many Buddhist temples and monuments of which the ruins still remain today. Surprisingly, after the reign of king Jayavarman VII, Mahayana Buddhism started declining and disappeared abruptly, and was superseded by Brahmanism, which was patronized by Jayavaraman VII's successors.

Towards the late thirteenth century, another school of Buddhism called Theravada was introduced to Cambodia. It was accepted by the Cambodian masses, while the rulers were still following Brahmanism. This Buddhist school soon took root in Cambodia, becoming the religion of the Cambodian people up until the present. Theravada Buddhism is also predominant in Sri Lanka, Thailand, Myanmar and Laos.

Cambodian Theravāda Buddhism may have come from and have been influenced by three sources, namely, Thailand, Sri Lanka and Mon. Being a neighbor of Cambodia, Thailand has naturally had influence on Cambodia, especially from the early fifteenth century in which Thailand captured several parts of Cambodia, and also invaded the capital of Angkor.[4] There are evidently striking similarities between Thai Buddhism and Cambodian one. Sri Lankan monks also helped spread the Theravada Buddhism to Cambodia after Buddhism was purified and reunified during the reign of King Parakramabāhu the Great (1153-1186). Tamalinda, a son of Jayavaraman VII, went to Sri Lanka and received ordination and education at Mahāvihāra monastery. Unfortunately, we have

no further evidence of his activities with regard to the spread of Theravāda Buddhism in Cambodia. The Mon who had practiced Theravāda Buddhism since the fifth century, also spread it to Cambodia, while they were fleeing from the Burmese invasion. According to Robert C. Lester, it was the Mon who introduced the Khmer Theravāda Buddhism.[5]

In its history of existence in Cambodia, Theravāda Buddhism has gone through several intermittent periods. From the fourteenth century onward, it had spread very fast and before long the kings and the nobles all accepted it and they gradually abandoned Brahmanical practices. When the country regained national independence from France, Buddhism was inscribed in the constitution as the State religion. During 1950s and 1960s, it was in a very flourishing condition under the patronage of the Kings and the State.

During the Khmer Rouge regime (1975-1979), Buddhism experienced the darkest period of its history. Buddhist practices were banned, monks were killed or were forced to disrobe, temples and Buddhist places of worship were plundered and destroyed. It is said that 21,667 monks were killed during the Khmer Rouge's brutal rule. [6]

The present Buddhism was revived in 1979 by the Peoples' Republic of Kampuchea (1979-1989). This revived Buddhism largely follows the structure which had been in existence before 1970s. From the time of revival, Buddhism has been growing exceptionally well, given the short period of time, particularly after 1988, the year in which young men were again authorized to receive ordination.[7]

Some Traces of Buddhist Education in Ancient Cambodia

Education is a central component of Buddhism. The Buddha founded the sangha as a community of learning, in which monks could learn from and chastise one another. When he permitted the monks to accept buildings donated by laypeople to be used as monasteries, it was with the principal aim that the monastery be used as an educational institution for monks.

Throughout its his history, wherever it spread, Buddhism paid serious attention to education and consequently monastic educational institutions have been established. Some of them attracted students, both monks and laypeople, from all over the world.

As a practice since the time of the Buddha, wherever Buddhism spread, education of followers was considered indispensible. Therefore, when Buddhism1 was introduced to Cambodia, Buddhist education received due attention. But teaching and learning were carried out in the traditional way in monasteries (wats), with abbots or senior monks as teachers of young monks (bhikkhu) and novices (sāmanera).

The first kingdom of Cambodia was Nokor Phnom or Funan (1st century-550 C.E) as was called by the Chinese. Its capital was Vyādhapura located at present-day Angkor Borey, Takeo province, Southeast Cambodia.

During Funan period, Sanskrit-based Hinayāna Buddhism was in flourishing condition. King Kaudinya Jayavarman had become an ardent Buddhist and in 484 C.E, he had sent a monk Nāgasena as an envoy of Nokor Phnom to Emperor Vo Ti of China. This monk was highly educated and on being inquired by the Emperor he explained in details the life and religious practices of Funanese. He said that the majority of Funanese followed Shaivism but Buddhism also existed side by side. Although there is not much evidence, the existing sources indicate that Buddhism was widely studied. During this period, Indian Buddhism which had been in flourishing conditions under the royal patronage of Kushan dynasty spread to Nokor Phnom as recorded by Tāranātha.

In 503 C.E, upon request by the Emperor of China, king Kauḍiṇya Jayavarman again sent two scholarly Khmer monks, Saṅghapāla and Mantrasena, as royal envoys to the Chinese court of King Vo Ti of Liang dynasty. They both were erudite monks, and were invited by the Chinese Emperor to translate Tripitaka in Sanskrit and Pāli into Chinese. It is recorded that Saṅghapāla knew several languages. Working at a place called "Funan quan = Office of Funan" for 16 years, they both had translated many texts which remain till these days. Among the texts they had translated were Śaptasatikā prañjāpāramitā, Mañjuçrī paripṛkkhāsūtra, Bodhisattvapiṭakasūtra, Daśadharmaka, Sarv abuddhvisayāvatāra, Dharmadhātuprakṛtya-samabhedanirdeśa, Mañju çrībuddha kśetraguṇavyūha, Ratnam eghasūtra, Vimuk timārga, etc. Vimuktimārga[8] (Path of Freedom) was a Sanksrit text originally written by Upatissa at Abhayagiri Vihāra, a rival of Mahāvihāra, in Sri Lanka.[9]

The fact that during Funan period, there had been Buddhist monks who were highly educated and competent in translating profound Buddhist texts, goes to say that there was Buddhist education.

In 664 C.E. an inscription of Vat Prey Ver praises two eminent monks (Bhikśu-varisthān) living at a temple which was a royal endowment, of being " treasures of virtue, science, kindness, patience, charity, austerity, and prudence- Sīla śruta śama kśanti dayā saṁyamadhi nidhi"[10] It clearly indicates that during this period, there were studies of Buddhism and some monks excelled in their studies and practice.

During Angkor period (802-1431 C.E), particularly in the reign of king Jayavarman VII the Great (1181-c.1220), Buddhist education was in a flourishing state. The queen of king Jayavarman VII was a very learned scholar; she taught nuns at three educational institutions, i.e., Nāgendratuṅga, Tilakuttara, and Narendrāśrama. [11]

King Jayavarman VII built two temples, Jayaśri (Preah Khan) and Rājavihār (Ta Prom), where Buddhist higher education was provided to monks, nuns and lay students.[12] According to the inscription of Ta Prom, at Rājavihār there were 18 principal monks (pandits), 2740 monks and 2232 assistants, who taught and performed rituals there.[13]

The Renaissance of Buddhist Education in Modern Era

The first formal Buddhist education in modern times began with the founding in 1909 of a Pali school at Angkor Wat in Siem Reap province, northwestern Cambodia. This school was called Parama Buddhavacana Pasad.[14] Unfortunately, the school was not successful as it was located far away from the city, making administration difficult. In 1911 , it was shut down.

In 1914, a new Pali school named Parama Buddhavacana Monti was founded in Phnom Penh to replace the one at Angkor Wat, and it was temporarily housed at the Emerald Pagoda in the Royal Palace under the royal patronage of King Sisowath. After some time, this school was shifted to a new building adjacent to the Buddhist Institute, and its name was changed to Pali High School. Then in 1955, two years after Cambodia regained independence, it was again renamed, this time Suramrith Buddhist High School. In 1933, a Royal Decree authorized the establishment of Pali primary schools and all of these were then located in monasteries. It should be mentioned that before the official establishment of Pali primary schools in Cambodia, Pali had been studied in monasteries. This is normal practice for Theravāda Buddhist monks.

To provide higher Buddhist education for monks, Preah Sihanouk Raja Buddhist

University was founded in 1954. It was the third oldest Buddhist university in the world. It was headed by Ven. Huot Tath, who held the ecclesiastical title Samdech Bodhivaṁsa (Rājāgaṇa First Class), and who was also the Director General of Buddhist Education. Unfortunately, this flourishing Buddhist education system suffered greatly in the years of conflict. After civil war broke out following the coup d'etat on 17 March 1970 led by General Lon Nol, the Buddhist University, like other institutions in the country, faced hardship and difficulties. Its allocated budget was not forthcoming and in due course conditions became so dire that it had to be closed down in 1972. After the Khmer Rouge came to power on 17 April 1975 Buddhism, like other institutions, met with the darkest period of its history in Cambodia: Buddhist monasteries were either destroyed or turned into storehouses or animal shelters; Buddhist practices were prohibited and Buddhist educational institutions were abolished.

The Re-establishment of Buddhist Education after Khmer Rouge

When the Khmer Rouge regime was toppled by the Kampuchean United Front for National Salvation with the assistance from Vietnamese troops on 7 January 1979, a new regime came to power called the People's Republic of Kampuchea (PRK). During the PRK period 1979–1989 Buddhism was revived to an extent and Buddhist practices were again allowed. The first ordination ceremony was held at Unalom monastery in Phnom Penh on 19 September 1979 at which time seven former monks were re-ordained.[15] For this ceremony, seven monks including a Preceptor and Assistant Preceptors were invited from South Vietnam by the state. However, up until 1988, men under 55 years of age were not permitted to receive ordination. Since then, Buddhism has gradually expanded: monasteries have been rebuilt and the number of monks has increased significantly. From 1979 to 1991 there was only one order of monks and all monks belonged to the Kampuchean United Front for National Salvation. These were known as 'Front Monks'.

However, upon his repatriation to Cambodia in December 1991 former King Norodom Sihanouk appointed Venerable Preah Mahasumedhadhipati Tep Vong as the Supreme Patriarch of the Mohānikay Buddhist Order, and Venerable Bour Kry as the Supreme Patriarch of the Thommayut Buddhist Order. This effectively re-established the two sects of Cambodian Buddhism that had existed before the Khmer Rouge regime.

By 2013, there were 4,676 monasteries and 57,573 monks and novices of both Orders in the whole country.[16] Of these, 4,488 monasteries and 52,824 monks and novices belonged to the Mohānikay Order,[17] while the Thommayut Order had 188 monasteries and 4,630 monks and novices. Both orders fall within the Theravada tradition. The re-establishment of Buddhist education in Cambodia began with the official re-opening of a Buddhist primary school on 2 December 1989 by Chea Sim, then a member of the Central Bureau of the Kampuchean Peoples' Revolutionary Party, President of the National Assembly and Chairman of the Kampuchean United Front for National Salvation, at Wat Toul Tum Poung in Phnom Penh. [18]

In his speech at the opening ceremony he said: "The renaissance of the monastic school will be the ground in which to plant Buddhist knowledge, to ensure the revival of our national culture and soul. It will contribute to the strengthening of pure morality, the spirit of solidarity, national unity, and international solidarity for our nation". (author's translation)

As mentioned, from the fall of the Khmer Rouge regime on 7 January 1979 up until 1988, young men were not allowed to become ordained, although some young men were

secretly ordained and led clandestine monastic lives in certain monasteries. Towards the end of 1988, the state issued a circular permitting young candidates to become monks. After this, ordination ceremonies were held in many monasteries in all of the provinces. Within a short time the number of monks, young monks in particular, increased so rapidly that by 1989 it became necessary to open monastic schools for them.[19] Prior to the official opening of the Buddhist schools, there had been some Pali and Buddhist studies operating unofficially in a few monasteries in the provinces.

Since the official opening of the first Buddhist primary school, many such schools have followed suit, both in the capital and in the provinces. In 1992, Buddhist secondary education began with the re-establishment of Suramrith Buddhist High School on the premises of the former Preah Sihanoukraj Buddhist University. In 2004, the High School was relocated to its original, pre-1975 location. In 1999, when the first batch of monk students had completed their Buddhist upper-secondary education, the Preah Sihanouk Raja Buddhist University was re-opened at its former location in Phnom Penh to provide higher Buddhist education to monks.

The present system of Buddhist education largely follows the structure that was in place prior to 1975. The curriculum, which consists of both religious and secular subjects, has been reproduced, with some adaptations to modern conditions. Buddhist monastic education is divided into three levels of studies:

1. Buddhist Primary Education, 3 years of studies
2. Buddhist Secondary Education, 6 years of studies
3. Buddhist Higher Education
   - Bachelor's degree: 4 years of studies
   - Master's degree: 2 years of studies with a dissertation[20]

1. Buddhist Primary Education

Buddhist primary schools are attached to and mainly looked after by monasteries. In 2001, Buddhist primary schools were discontinued in Phnom Penh, though some have been upgraded to Buddhist Secondary Schools.[21]

At present, Buddhist primary schools officially exist only in the provinces, though some monasteries in outlying districts of Phnom Penh still provide Buddhist primary education to newly ordained monks. The main reason given for discontinuing Buddhist primary schools in the capital is that there is insufficient accommodation, and the number of monks is too great, which means it would be difficult for them to find food by going on alms rounds. Buddhist primary education consists of three years of study, at the end of which candidates who pass the state examination receive the title of Mahā. This qualification entitles the monk to sit the entrance examination for Buddhist secondary school.

The study programme includes Pali, Buddhist discipline, biography of the Buddha, Buddhism and the secular subjects that are taught in grades 4, 5, and 6 at the public schools. As a requirement for their study of Pali, the first year students are required to memorize a grammar book by heart. In the second and third years they are taught to translate the commentary of the Dhammapada word by word into Khmer. Although a few Pali teachers have endeavoured to change certain aspects of the course and teach Pali by composing sentences and structures, the old method continues to be followed.

In 2014, there were 772 Buddhist primary schools spread throughout the country, attended by 16,760 monk students.[22] Since the re-opening of Buddhist schools, 17,887 (2005 figures) monk students have completed and obtained Certificates of Buddhist Primary Education.

2. Buddhist Secondary Education

Buddhist secondary education started with the re-opening of Suramrith Buddhist High School in 1993 in Phnom Penh. It consists of two levels, lower secondary and upper secondary, each comprising three years of study. The duration of lower secondary education is now one year less than it was in the 1960s. The reason for the reduction by one year was, firstly, to match the duration of secondary education in secular schools and, secondly, to produce graduate monks as quickly as possible since Cambodian society is in a great need of qualified monks. The programme of the Buddhist lower secondary studies includes Pali, Sanskrit, Buddhist discipline, Buddhism, English and the secular subjects taught in grades 7, 8, and 9 at the public schools. Besides grammar, Pali is studied by translating commentarial texts, such as 'Maṅgaladīpani' (Commentary of Maṅgalasutta), 'Visuddhimagga (Path of Purification), Kaṅkhā vitaraṇi' (Commentary of Pāṭimokkha).

In 2014, there are 35 Buddhist junior high schools in Cambodia that provided Buddhist secondary education to 4815 monk students. As of 2005, 2,880 monks had completed their studies and received Certificates of Buddhist Lower Secondary Education.10 Out of the 35 Buddhist junior high schools, ten are situated in Phnom Penh. [24]

Most Buddhist junior high schools, especially those in the provinces, will likely proceed to provide upper secondary education to the students when they have completed the lower secondary studies. Consequently, the number of Buddhist high schools offering upper secondary education will increase year by year.

As of 2014, there are 1,673 monks doing Buddhist upper secondary studies in ten Buddhist high schools, while 314 monks had passed the final examination and obtained Certificates of Buddhist Upper Secondary Education. So far, 17 Buddhist high schools provide upper secondary education.[25]

The programme of Buddhist upper secondary studies includes Pali, Sanskrit, Buddhist discipline, Buddhism, comparative religion, English, and the secular subjects taught in grades 10, 11 , and 12 in the public schools. Pali language and grammar are more advanced at this level, including composition of Pali verse and translation of Khmer texts into Pali, and vice versa.

3. Buddhist Higher Education

Right now, in the field of Buddhist higher education, there are three Buddhist universities in the whole country, namely, Preah Sihanoukraj Bddhist University, Preah Sihamoniraja Buddhist University, and Samdech Hun Sen Buddhist University, Kompong Cham.

The Preah Sihanoukraj Buddhist University (SBU) was re-opened in 1999 in order to provide higher education in Buddhism and relevant fields of study to those monks who had completed their Buddhist upper secondary studies. The University conducts an entrance examination for the selection. of 50 students each year. In the first three academic years, it was able to maintain only one department, the Department of Buddhist Studies. In response to the increasing number of applicants, the University established the Department of Education Science in 2003. This department annually admits 50 students who have passed a competitive entrance examination. This means that from 2003 until 2006, one hundred students were selected for each academic year.

On 23 January 2006, the Preah Sihanoukraj Buddhist University was upgraded by a sub-decree of the Royal Government of Cambodia to a fully fledged university with the addition of two more departments and a centre:

the Department of Pali, Sanskrit and Foreign Languages, the Department of Khmer Literature, and the Centre of Teachers' Training. [26] Therefore, currently the university comprises four departments and a centre. From the academic year of 2006 onwards the university will be admitting 200 students each year. In 2006 there were 403 students studying at the University.14 The first three batches of 65 students had already graduated from the University with Bachelor of Arts degrees in Buddhist Philosophy, and the first group of 24 students had graduated with Bachelor of Education degrees. Some of the graduates have now become teachers at Buddhist secondary schools. Some of the others are pursuing their Masters degrees at various universities in Cambodia and abroad.

According to the prospectus, the main objectives of re-establishing the University are as follows.15

1. To give Cambodian Buddhist monks a deep knowledge of religious and secular fields in order that they may become a firm knowledge base from which Cambodian people may benefit, and so that they may teach as well as propagate true Buddhist teachings far and wide, both inside and outside the country.
2. To train Cambodian Buddhist monks to become an integral part of our national intellectual resources, to contribute to national development in social morality, to upgrade the quality of life of Buddhists through education, teaching, etc.
3. To train Cambodian Buddhist monks to have the competence, depth of knowledge and skills to preach the dhamma, explain and interpret the Buddha's teachings, and provide guidance to people concerning their way of life.
4. To train Cambodian Buddhist monks to become well-qualified scholars, who have wisdom and good conduct, and are able to perpetuate and promote Buddhism well.
5. To train Cambodian Buddhist monks to become scholars with erudition and expertise in Buddhism, to do research, write books and propagate Buddhism both at home and abroad.[27]

The re-establishment of the Buddhist University thus aimed to cultivate monks' solid knowledge in both religious and secular fields in the hope that graduate monks will then serve both Buddhism and society.

Since the number of monks completing Buddhist upper secondary education is increasing significantly each year, and with the aim to provide Buddhist higher education to provinces, the Ministry of Cults and Religions has opened two branches of Preah Sihanouk Raja Buddhist University, one in Kompong Chhnang province and another in Battambang province.[28] With the opening of these two branches monks and lay students have been provided with opportunities to continue higher education in their provinces without coming to Phnom Penh. This has eased the number of monks in the capital and has increased the number of qualified and educated monks in the provinces.

On June 10, 2005, proposed by His Holiness Bour Kry, the Supreme Patriarch of Dhammayutta Order of Cambodia, Preah Sihamoniraja Buddhist University (PSBU) was established under the royal patronage of His Majesty Preah Boromneath Norodom Sihamoni, King of Cambodia, at Svay Pope Monastery, Sangkat Tonle Bassac, Khan Chamcar Mon, Phnom-Penh.[29] Being a public educational institution, the university operates under the Ministry of Cults and Religions, and the Ministry of Education, Youth and Sports, Royal Government of Cambodia.16 Initially started as a Buddhist College, consisting of two departments:

the Department of Buddhism and the Department of Administration, the university was upgraded to include 4 faculties. This university appears to have been established with the intention of providing greater opportunities to the monks of the Thommayut Order, whose number is still small and only a few of them have studied up to tertiary level. However, current enrolments show that the vast majority of monk students of the college are from the Mohānikay Order.

In 2013, Samdech Hun Sen Buddhist Uniersity Kompong Cham (HSBU) was set up in the provincial capital of Kompong Cham, to honor the birthplace of Hun Sen, the current Prime Minister of Cambodia.[30] With the provincial Sangha governor as the first Rector, the new Buddhist university consists of four faculties which enrolls monks as well as lay students in the province and from the neighboring provinces.

Study of Doctrine and Discipline

In addition to the three levels of Buddhist monastic education, there is another form of Buddhist education called 'Dhamma-Vinaya'. This consists of three years and is divided into three levels known as Thnak Trey, Thnak Toa, and Thnak Ek. This is a traditional way of studying Buddhism and it does not have a systematic administration. As was the case in the 1960s, all the schools today remain on monastery premises and are directly managed by monasteries. While some are one-classroom schools, others do not have classrooms per se. Some monks learn under volunteer teachers, while others learn by reading books themselves. Then, depending upon their level of knowledge, they may take the annual examination that is held by the Office of Dhamma-Vinaya of the Directorate of Buddhist Education and by provincial Departments of Cults and Religious Affairs countrywide. The examination is also open to the general public. The papers include the biography of the Buddha, Buddhist discipline, selected kindred sayings, and the Buddha's verses.

According to a statistic obtained from the Ministry of Cults and Religious Affairs, in 2005, there were 768 Dhamma-Vinaya schools attended by 15,836 students throughout the country.18 It is very difficult to assess how accurate this figure is since Dhamma-Vinaya studies do not have a formalized system of administration. Moreover, Dhamma-Vinaya examination appears to have lost its appeal to monk students. Some monks do not find the

examination important any more, while others take the examination only for the sake of the certificate. One of the reasons for this indifference is the lack of encouragement from the authority concerned. Monks interviewed by the author say that the certificates of Dhamma-Vinaya are not useful for their purposes even within the Saṅgha community.

The Progress and Challenges of Buddhist Education

Since its re-establishment in 1989, Buddhist education has taken great strides, particularly after the UN-sponsored general elections of 1993. Buddhist primary schools have jumped in number from 23 in 1990 to 584 in 2005. Buddhist secondary schools have increased from one in 1993 to 30 in 2005, and these are found in most of the major provinces of the country. The number of monk students in the three levels of education has also shot up rapidly.[31] There are now Buddhist primary schools even in such remote provinces as Uddor Meanchey, Preah Vihear, Ratanakiri and Mondolkiri.

Before 1975, Buddhist monastic schools were concentrated to Phnom Penh. Although primary schools existed in some provinces, Buddhist secondary schools were only to be found in the capital and in Battambang province. The establishment of a great number of

provincial Buddhist secondary schools means that monks in rural areas have the opportunity to receive Buddhist higher education without coming to Phnom Penh.

Previously, some monks had to abandon their studies because they could not find accommodation in the capital, the only place at which they could obtain Buddhist higher education. The new availability of Buddhist education in the provinces not only saves Buddhist schools in the capital from becoming too densely populated but also provides a valuable contribution to the development of human resources in rural areas.

As mentioned above, Phnom Penh has eight Buddhist secondary schools offering Buddhist lower secondary education, and three high schools offering Buddhist upper secondary education. This is an unprecedented number. Before the Khmer Rouge took power, there was only one Buddhist high school namely, Suramrith Buddhist High School. The communique of the 14th Annual Conference of High Dignitary Buddhist Monks in 2005 adopted the principle that each district should have at least one Buddhist primary school, and in each province there should be a Buddhist secondary school.[32] This will enable Buddhist monastic education to spread more widely throughout the country, especially in the remote provinces.

Challenges of Buddhist Education

Despite its rapid progress, Buddhist education in Cambodia today is faced with many challenges. The rapidly increasing number of monks and novices means that more learning facilities have to be provided. However, since the national economy is struggling, education in general has received insufficient attention and resources. Since Buddhist monastic education falls under the management of the Ministry of Cults and Religious Affairs, which is not a prioritized ministry in government policy, it has received less attention than other areas of education. The government prioritizes particular fields in its policy, and secular education (which falls under the Ministry of Education) is one of these.

The number of Buddhist schools at all three levels is inadequate to provide education for the growing number of monks and novices. If we compare the total number of monks in the whole country and the number of monk students in the three levels of education, we see that two thirds of monks are not attending Buddhist schools.[33] The number of monks who have graduated from Buddhist high school or from the Buddhist University is still very small. The shortage of Buddhist schools is felt country-wide, and it is most acute in the remoter districts of the border provinces. Acquiring teaching materials has been a major problem. Chea Krasna, a Pali teacher of Samdech Oum Suom Mahāmontrey Buddhist Secondary School, has stated that he has been a Pali teacher there since 1990 and the major problem for him and other teachers at the school is the shortage of textbooks and documents for use in teaching.[34]

The Buddhist educational institutions do not yet possess textbooks of their own for secular subjects. Instead, they make use of the textbooks from the Ministry of Education for teaching non-religious subjects such as mathematics, physics, chemistry, history, geography. Even textbooks on Buddhist subjects are often unavailable or are in inadequate supply. Those available have generally been written and published prior to 1975 and there are no plans to bring textbooks up to date or to compose new ones. Almost all Buddhist schools also lack teaching materials and laboratories. Some Buddhist schools do not even possess a library, while the libraries of some Buddhist schools are poorly managed and do not contain enough books.

The lack of teachers is another serious problem. Venerable So Sarith, Director of Samdech Nun Nget Lanka Buddhist Secondary School, explained, 'We do not have enough teachers, and most of the teachers are hired from outside… Some hired teachers do not come regularly, which makes students lose interest in their studies.[35] Pali teacher Chea Krasna concurs. The shortage of teachers, especially teachers of religious subjects, is felt everywhere, at the three levels of Buddhist education. For instance, all of the country's Buddhist primary schools – which have 1,107 classrooms and 16,760 monk students – have only 1847 teachers, of which 144 are formal teachers, 1,438 are teachers on contract and 91 are volunteer teachers and 174 are teachers hired from outside.[36] This shows that many schools lack permanent or properly trained staff.

The same problem exists within higher Buddhist education. The Preah Sihanouk Raj Buddhist University currently has only ten academic and administrative staff. It therefore hires three times as many teachers from outside to fill the vacancies. These outside teachers often fail to come to class and consequently the teaching programme cannot follow the schedule correctly. The Ministry of Cults and Religious Affairs has tended to recruit only a limited number of teachers to the Buddhist primary and secondary schools and the government has no plan to provide enough teachers to Buddhist schools.

As with other civil servants in Cambodia, the teachers of Buddhist monastic education are so badly paid that they have to resort to other forms of employment to earn a sufficient income. The hourly remuneration for visiting teachers is also very low and payments are often appallingly delayed.25 In addition to these problems, Buddhist education does not have its own funds or resources to run the schools, and management is not always reliable. For example, the Buddhist university, where the author is a lecturer, does not even possess enough funding to run examinations. All these problems have resulted in poor standardization and a relatively low quality of Buddhist education. Before the civil war broke out, Buddhist education was considered to be of a good standard and its certificates were highly regarded. Nowadays, by contrast, there are constant complaints about its low standard.

Conclusion

Modern Buddhist education in Cambodia began in 1909. The present system, however, began with the re-opening of a Buddhist primary school at Toul Tum Poung, Phnom Penh, in 1989. Since then, the number of Buddhist primary schools attached to monasteries has increased rapidly and Buddhist secondary schools too have reached a hitherto unprecedented number. They can be found in most of the 25 provinces and in the major cities of the country, with the bulk in Phnom Penh. For higher Buddhist education, there is the Preah Sihanouk Raj Buddhist University in Phnom Penh, which was re-opened in 1999 and is the only higher Buddhist educational institution in the country.

Besides the formal, three-level Buddhist education, there are also three grades of Dhamma-Vinaya study. This education has no proper, systematic administration or schools, but state examinations are held annually for the three grades and certificates are issued to successful candidates by the Ministry of Cults and Religious Affairs, with approval from the Supreme

Patriarchs of both Buddhist Orders. In spite of rapid growth, Buddhist education is faced with many problems. The shortage of administrative and academic staff at all three levels has impeded progress. The low levels of

reimbursement to teachers have also resulted in the frequent absence of teachers. Due to lack of funding, all Buddhist monastic schools suffer from insufficient teaching materials and poor school maintenance.

Given all of this, it is difficult to know what direction Buddhist education is taking. It is very much in a period of trial and error at present. Most aspects of it are being restructured and are searching for ways to move forward. Thus far, it continues to lack proper curricula. The textbooks at primary and secondary levels are inadequate or non-existent, particularly textbooks for secular subjects. As the youngest institution in the field, the Buddhist University faces a Herculean task. It lacks all the resources necessary to run decent courses. The most significant lack is human resources in the form of competent and qualified administrative and academic staff. These problems are all the more significant given that the country as a whole is swamped by a myriad of problems and Buddhist education remains the only hope for most Cambodians. We Cambodians hope that it will become strengthened in the not too distant future and once again become the backbone of Cambodian society that it used to be, and guide the country towards real peace, happiness and prosperity.

End Notes:-

1. *This event is recorded in the Mahāvaṁsa, a chronicle of Sri Lanka, and in Samant apāsādikā, the commentary to Vinaya Pitaka, Basket of Discipline.*
2. *He is known as Fan Che Man in Chinese. Funan is the Chinese name for the first Kingdom of Cambodia (From the first to sixth centuries). Later it was called Chenla by the Chinese (from the sixth to eighth centuries). Then came Khmer Empire or Kamboja (802-1431).*
3. *There are accepted two major Buddhist traditions i.e. Hīnayāna (Lesser Vehicle) or the preferred Theravāda (Word of the Elders) and Mahāyāna (Greater Vehicle). Some scholars include Vajrayāna (Diamond Vehicle) as the third.*
4. *Thai attacked Angkor in 1431, captured hundreds of learned scholars and took religious scriptures and valuables to Thailand. From then onward, Angkor was on the declining spiral and finally was abandoned in 1432*
5. *Lester, Robert C.; Theravāda Buddhism in South East Asia, p. 75*
6. *Speech of Samdech Tep Vong at Mahamontrey monastery, Phnom Penh, May 20, 2007*
7. *From 1979 up until 1988, only men over 50 years were lawfully allowed to become monks. Yet, the writer saw some young monks leading clandestine monastic life in some temples in Kompom Thom province before 1988.*
8. *Yon Sothea; Education of Sa gha in the Kingdom of Cambodia; unpublished M.A Thesis; p. 72*
9. *Rahula, Walpola; History of Buddhism in Ceylon; p. 78*
10. *Finot, Luis; Outlines of the History of Indo-China; in "Buddha and the Spread of Buddhism in India and Abroad (Facets of Buddhist Thought and Culture: 2); p. 326*
11. *Puri, B.N; Buddhism in Ancient Kambujadesa; in "Buddha and the Spread of Buddhism in India and Abroad (Facets of Buddhist Thought and Culture: 2); p. 339*
12. *Pang Khat; Pravat Puthasāsana Nov Protes Kampuchea (History of Buddhism in Cambodia); p. 81*
13. *Puri, B.N; Buddhism in Ancient Kambujadesa; in "Buddha and the Spread of Buddhism in India and Abroad (Facets of Buddhist Thought and Culture: 2); p. 340*
14. *Buddhist Institute, 2006. Pravat Buddhika Siksa (A History of Buddhist Education). Phnom Penh*
15. *Ly Sovy (2004) Pravat Preah Sangh Khmer (History of Cambodian Monks: In 8th, 9th and 10th Decades of 20th Century), Phnom Penh, p.1*
16. *Min Khin; In his speech at the 22th Annual*

Conference of High Ranking Buddhist Monks (17 December 2013), Chatomok Conference Hall, Phnom Penh

17. *Cambodian Theravāda Buddhism is divided into two sub-sect, namely, Mohanikāy and Thommayut. Mohanikāy is by far the larger of the two*

18. *From a report of the Official Opening Ceremony of The Buddhist Primary School obtained from Toul Tum Poung monastery, Phnom Penh*

19 *In 1989 there were 8,000 monks and novices living in 2,800 monasteries (Hean Sokhom [2001] 'Rehabilitation of Monk Education in Cambodia.' [In Khmer], paper presented at the 4th Socio-Cultural Research Congress on Cambodia, Phnom Penh).*

20. *Prospectus, Preah Sihanouk Raja Buddhist University; p.2*

21 *The author's interview with the President of Toul Tum Poung Monastery's Lay Committee, 6 August 2005.*

22 *2014 Statistic of Buddhist Secondary Education, obtained from the General Inspectorate of National Buddhist Education, Phnom Penh*

23 *Ipid*

24 *2014 Statistic of Buddhist Secondary Education, obtained from the General Inspectorate of National Buddhist Education, Phnom Penh*

25 *2014 Statistic of Buddhist Upper Secondary Education, obtained from the General Inspectorate of National Buddhist Education, Phnom Penh*

26 *Sub-decree dated 23 January 2006, signed by Hun Sen, Prime Minister of Cambodia, obtained from the Preah Sihanoukraj Buddhist University.*

27 *Chhorn Iem (2000a); Kaṁvithi Siksā Puthika Mahāvithyealay Preah Sihanoukreach 'The Curriculum of the Preah Sihanoukraj Buddhist University.*

28 *Speech by H.E. Min Khin, Secretary of State, Ministry of Cults and Religions, in charge of Buddhist Education, during the opening ceremony for the senior defense of the Bachelor's degree final 4th year students of the Buddhist University, 30 January 2007.*

29 *Internet search: www.itbu.org; on November 13, 2014*

30 *Sub-decree 2013, signed by Hun Sen, Prime Minister of Cambodia, obtained from the General Inspectorate of National BuddhistEducation; Phnom Penh*

31 *Hean Sokhom (2001) 'Rehabilitation of Monk Education in Cambodia.' [In Khmer], paper presented at the 4th Socio-Cultural Research Congress on Cambodia, Phnom Penh), p.75.*

32 *Sangha Prakas (Saṅgha Communiqué) of the 14th Annual Conference of High Ranking Buddhist Monks, 13 September 2005, Phnom Penh.*

33 *Of the 58,828 monks in the country, only 19,075 monks are enrolled in formal education*

34 *Author's interview with Chea Krasna, Mahāmontrey monastery, Phnom Penh, 6 August 2005.*

35 *Author's interview with Venerable So Sarith at Lanka monastery, Phnom Penh, 19 August 2005.*

36 *2012 statistic of Buddhist Primary Education, obtained from the General Inspectorate of National Buddhist Education, Ministry of Cults and Religions, Phnom Penh*

In refuting the view that "Whatsoever weal or woe or neutural feeling is experienced, all that is due to some previous action" the Buddha says:

"So that, wing to a previous action, men will become, murderers, thieves, unchaste, liars, slanderes, abusive, babblers, covetous, malicious and perverse in view - Thus for those who fall back on the former deed as the essential reason there is neither desire to do, nor effort to do, nor necessity to do this deed or abstain-from deed.

Anguttara Nikaya

BODHI-PATH

Half-yearly Bilingual Buddhism and Philosophy Journal
Reg.DELBIL/2011/41024, ISSN2347-8004
Aim & objects:

- To make known "The Teaching of the Buddha".
- To induce Human and Family Values.
- To promote Moral and Spiritual Values.
- To develop and cultivate Meditation & Wisdom.
- To learn Pali Language & Literature.
- To learn History of Buddhism in India & abroad

Dr. Sangh Mitra Baudh, the Editor, BODHI-PATH
Publisher: Buddha Education Foundation (Trust) Maitrya Buddha Vihar
H-2/48, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
E-mail: sanghmb@gmail.com baudhs@yahoo.com, buddhaedu@ymail.com
Conntact: 8447637374, 9968262935, 9212071540, 011-27890923
Website: http://bodhi-path.com

Subscription:
Single copy Rs. 50/- Annual Rs.100/- Life Rs. 5000/-
Subscriptions may please be sent by Cash, Cheque and D.D, in favour of 'buddha education foundation', A/C-3007101001960, Cenara bank, Rockfield School, sec-16, Rohini, delhi-110089.

With Metta,

68वां गणतंत्र दिवस की

हार्दिक शुभकामनाएँ

संविधान के जनक

'' संविधान कितना ही अच्छा क्यों न हो, यदि उसको व्यहवार में लाने वाले सदस्य अच्छे न हों, तो संविधान नि:सन्देह ही गलत प्रमाणित होगा। भारत के लोग भविष्य में कैसा व्यवहार करेंगे, यह कौन जान सकता है ?

'' मुझे चिंता इस बात की बड़ी है कि भारत ने पहले अपनी स्वतंत्रता ही केवल नहीं खोई, बल्कि वह अपने ही लोगों के विश्वासघात से खोई गई थी। देश एक समय स्वतन्त्र था, परन्तु जो देश एक बार अपनी स्वतंत्रता खो बैठा, दूसरी बार भी खो सकता है।...क्या इतिहास अपने को दोहराएगा ? इस बात से मेरा मन चिन्ताग्रस्त है। जातियों और पंथों के रूप में अपने पुरानें शत्रुओं के अलावा हमारे देश में अनेक दल हैं जो विरोधी विचारों तथा मार्गों का पोषण करते हैं। इसलिए संकुचित पंथ या पक्ष को प्रधानता दी गई तो देश फिर एक बार मुसीबतों में फँस जाएगा। अत: हमें दृढ़तापूर्वक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा रक्त की अन्तिम बूँद तक करनी चाहिए।

यदि हम लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं, तो हमें अपने सामाजिक एवं आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति संवैधानिक ढंग से करनी चाहिए, अन्य हिंसात्मक तरीकों से नहीं। स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृभाव के आधार पर अधिष्ठित सामाजिक जीवन ही लोकतन्त्र कहलाता है। समानता के बिना, स्वतन्त्रता का अर्थ बहुसंख्यकों के द्वारा अल्पसंख्यकों पर प्रभुत्व का होना है। 26 जनवरी 1950 को, हमें राजनीति में समानता मिलेगी, पर सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमानता रहेगी। भारतीय समाज में समानता का अभाव है। हमें इस विषमता का शीघ्रता से अन्त करना चाहिए अन्यथा विषमता से बुरी तरह पीड़ित लोग, इस संविधान-सभा द्वारा बड़े परिश्रम से खड़े किए गए लोकतन्त्र के महल को मिट्टी में मिला देंगें।''

अन्त में उन्होंने सभी भारतीयों से अपील की कि वे सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक अर्थ में एक राष्ट्र बनें और जातियों का निषेध करें जिनके कारण हम अवनति की स्थिति में आ गिरे। परस्पर जातिगत भेदभावों को भुलाकर हमें संगठित रहना चाहिए। जिस संविधान में हमने ''जनता के लिए, जनता का और जनता द्वारा राज्य-तत्त्व अन्तर्भूत किया है, वह संविधान दीर्घकाल तक बना रहे,ऐसा यदि हम चाहते हैं तो देश के सामने संकटों को समझने में और उनका निराकरण करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। सभी नागरिकों को देश की सेवा करने का यही मार्ग अपनाना चाहिए।''

Buddha Education Foundation (Trust)
E-mail:baudhs@yahoo.com,buddhaedu@ymail.com sanghmb@gmail.com
Contact No.: 9968262935, 8447637374
Website: http://bodhi-path.com